विपाशा

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका

tharahkardu.in

मुख पृष्ठ : चारंग (किन्नौर) चित्रांकन : हिमकुमार चटर्जी

ऊपर का चित्र : बरसेला समूह (स्मारक शिलाएँ) मंडी

छाया : सुरेन्द्र मोहन सेठी

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष-7 अंक-39, जुलाई-अगस्त, 1991

मुख्य संपादक
सी.आर.बी. ललित
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि. प्र.

संपादक
तुलसी रमण

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि. प्र.
त्रिशूल, शिमला-171003 दूरभाष : 3669, 6846, 4614

वार्षिक शुल्क : दस रुपये, एक प्रति : दो रुपये

क्रम

3 पाठकीय

5 संपादकीय

लेख

7 यथार्थ और उसकी समस्याएँ : **यशपाल**

15 वर्तमान दशक की हिन्दी कहानी : **डॉ. धनंजय वर्मा**

पाहुन

18 पाँच कविताएँ : **विनोदकुमार शुक्ल**

कहानी

22 पाँच का नोट : **डॉ. नरेश**

27 तबादला : **बद्री सिंह भाटिया**

34 गिरावट (चीनी कहानी) : **पिंग् शिन्**

36 अनजानी तिथि का चाँद : **तरुणकांति मिश्र**

कविता

45 चार कविताएँ : **वंशी माहेश्वरी**

50 तीन कविताएँ : **श्रीवत्स**

53 पिता और संसार : कुछ कविताएँ : **प्रफुल्ल कुमार**

56 तीन कविताएँ : **ओमप्रकाश बाल्मीकि**

60 पाँच कविताएँ : **श्रीकांत**

समीक्षा

64 गंगा प्रसाद विमल की कविताएँ : **ओम निश्चल**

69 नयी कविता की भूमिका : **डॉ. ओम् प्रकाश सारस्वत**

72 परम्परा का सही मूल्यांकन : **देवेन्द्र धर**

74 ग्रामीण कहानियाँ और कोरिया यात्रा : **ज्योतिष जोशी**

शोध लेख

79 वेद और हिमाचल : **डॉ. पद्म चन्द्र काश्यप**

आयोजन

88 संस्कृत दिवस समारोह, गुलेरी जयंती, सोलन में कहानी पाठ : **मदन हिमाचली, मनजीत**

पुरातत्व

92 हिमाचल प्रदेश के भद्रमुख : **सुरेन्द्र मोहन सेठी**

94 किन्नौर के मंदिर : **हिमकुमार चटर्जी**

96 आवरण के चित्र

रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं, इनमें सम्पादकीय सहमति आवश्यक नहीं।

पाठकीय

अतुल मोहन प्रसाद, रोहतास बिहार

विपाशा के दो अंक 36 एवं 37 प्राप्त हुए। आभार। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविताएँ हृदय को स्पर्श करती हैं। राजी सेठ की 'तदुपरान्त' कहानी सिर के ऊपर से गुजर जाती है। 'बूढ़ा पीपल' एवं 'अपना एकान्त' में कहानीकार ने जो उकेरना चाहा है वह उकेरने में सफल रहा है। राहुल सांकृत्यायन का 'किन्नर देश पर ऐतिहासिक दृष्टि' इस अंक की निधि है।

कालू कहानी बाल-मन के अनछुए प्रसंग एवं कुत्ते की अपनी अलग वफादारी को दर्शाने में सफल रही है। साहित्यिक आयोजनों पर इस अंक में अच्छी रपटें प्रस्तुत हैं।

हेमचंद वर्मा, करसोग, हि. प्र.

विपाशा से मेरा परिचय इसके 32 वें अंक से हुआ है। तब से लेकर मैं इस द्वैमासिक पत्रिका को बड़ी ही रूचि से पढ़ता आ रहा हूँ। मैं इस पत्रिका की प्रशंसा भी कर रहा हूँ तथा आलोचना भी। जहां इससे प्रदेश की कला तथा संस्कृति का ज्ञान होता है वहीं पर इससे कई अन्य लाभ भी हैं।

पत्रिका की आलोचना के पक्ष में मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि यह पत्रिका आम बाज़ारों में तो मिलती ही नहीं है, परन्तु बड़े शहरों में भी इसके अंक बड़ी देरी से मिलते हैं तथा केवल कुछ खास लेखकों को ही इसमें स्थान दिया जाता है।

सदानन्द सुमन, रानीगंज, बिहार

आपकी पत्रिका का जिक्र हंस (अक्तू0 91) में उल्लेखनीय पत्रिकाओं की सूची में पढ़ा। वैसे भी विपाशा नाम मेरे लिए नया नहीं है इसकी चर्चा अन्यत्र भी पढ़ने सुनने का सौभाग्य मिला है। लेकिन अब तक इस का कोई अंक देखा नहीं है पता भी मालूम नहीं था इसलिए चाह कर भी मंगा नहीं पाया। 'हंस' में भी इसके वार्षिक शुल्क का कोई उल्लेख नहीं है विपाशा में मेरी रूचि है सदस्य बनना चाहता हूँ।

विजय कुमार, चंडीगढ़

अंक 37 में 'भाषा, कला औपनिवेशिक मानस' शीर्षक अज्ञेय जी का लेख ज्ञान प्रद हैं। इस तरह की सामग्री से अंक संग्रहणीय बन पड़ा है। मानवाधिकारों के प्रति भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करने वाला आचार्य शालिग्राम का लेख भारतीय परम्परा से जुड़ा है लेकिन इसमें भारतीय परम्परा को गुण-दोषों के आधार पर नहीं परखा गया बल्कि भारतीयता का गुणगान ही देखा जा सकता है। हमारे पारम्परिक पंडितों की यही पद्धति रही है। वास्तव में देश-काल के अनुसार समाज में बराबर परिवर्तन आते रहते हैं। इन परिवर्तनों के कारण समाज व्यवस्था

में भी बदलाव निश्चित है। इसलिए हम हमेशा कुछ निश्चित मान्यताओं को लेकर नहीं चल सकते। समयानुसार परिवर्तन का स्वागत करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

इस अंक में श्रीनिवास जोशी की कहानी 'कालू' प्रभावित करती है और रोमानियन कहानी 'चीज़ें' भी बहुत अच्छी है।

प्रकाश चंद शर्मा, नाहन

विपाशा के अंक 36 का आवरण बहुत अच्छा है। मुख पृष्ठ और अंतिम पृष्ठ विशेष रूप से आकर्षक हैं। इस अंक में रघुवीर सहाय की कविताओं का चयन और उनके गद्य खंड महत्वपूर्ण हैं। कविताओं में कवि द्वारा औरतों के जीवन को लेकर लिखी गई कविताओं को भी लिया गया है। रघुवीर सहाय के लगभग हर संग्रह में औरतों को लेकर बहुत अच्छी कविताएँ मिलती हैं जिनमें भारतीय समाज में नारी जीवन के दुःखों और विडम्बनाओं को सही अभिव्यक्ति मिली है—औरतें वे सूखकर रह गयी/उनकी बच्चियों ने जवान होकर दादियों की/काठियाँ पाईं।

डॉ. जवरीमल्ल पारख ने 'यथास्थिति के विरुद्ध रचनात्मक हस्तक्षेप' शीर्षक लेख में समकालीन हिन्दी कविता के महत्वपूर्ण कवि रघुवीर सहाय के विचार एवं कृतित्व पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। यह मूल्यांकन सटीक बन पड़ा है। डॉ. जेरथ का लेख व्यापक अध्ययन पर आधारित है और डॉ. सत्येन्द्र शर्मा संवेदना के निकट हैं। इस अंक की कहानियों में राजी सेठ की कहानी में बहुत महीन बुनावट है जबकि नरेश पंडित की कहानी इसके विपरीत सीधी बात कहती है। हेमंत अगोछिया की कहानी 'अपना एकांत' भी प्रभावित करती है। डॉ. ओम् प्रकाश सारस्वत का निबंध पारंपरिक निबंध-सा लगता है। इसमें कोई नई चमक नहीं दिखाई देती, बल्कि अंत में जाकर यह 'अश्वत्थ' से हटकर लेखक के इर्द-गिर्द घूमने लगता है।

रवीन्द्र गुप्ता, धर्मशाला

विपाशा-36 में रघुवीर सहाय को लेकर स्तरीय सामग्री पढ़ने को मिली। उनकी रचनाओं का चयन भी अच्छा है और डॉ. पारख का लेख भी महत्वपूर्ण है। दिवंगत कवि के व्यक्तिगत जीवन को लेकर भी कुछ संस्मरण आदि दे पाते तो बेहतर होता।

किन्नर देश की ऐतिहासिकता को लेकर राहुल सांकृत्यायन का लेख महत्वपूर्ण है। इस तरह की सामग्री हिमाचल से निकलने वाली पत्रिका में जाती रहे तो शोधार्थी पाठकों के लिए भी उपयोगी रहती है। किन्नौर के मंदिरों के रेखांकन अच्छे हैं लेकिन इनके साथ यदि वास्तुशिल्प सम्बन्धी विवरण भी विस्तार से दिया जा सके तो इस सामग्री की उपयोगिता बढ़ सकती है।

संजीव चौहान, हि. प्र. विश्वविद्यालय, शिमला-5

विपाशा के अंक-37 में कहानियाँ और कविताएँ बहुत अच्छी हैं। तमिल कविताएँ देकर आपने भारतीय भाषाओं के साहित्य को भी प्रतिनिधित्व दिया है। इससे भारतीय भाषाओं के साहित्य के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान संभव हो सकेगा।

शिमला जनपद के लोकनाट्यों पर डॉ. हरिराम जसटा ने बहुत विस्तार से लिखा है। अब इन लोक नाट्यों का प्रचलन लगभग समाप्त होता जा रहा है, ऐसी स्थिति में जनजीवन को सही अभिव्यक्ति देने वाले इन लोक नाट्यों पर प्रकाश डालना उचित ही है। दूरदर्शन और अन्यान्य माध्यमों के प्रचलन के कारण अब ये कलाविधाएँ आखरी सांसें गिन रही हैं, इसलिए इनके संरक्षण की ओर भी ध्यान जाना चाहिए।

संपादकीय

शोध की भ्रांति

इधर प्रदेश, क्षेत्र या अंचल के स्तर पर भू-भाग विशेष के इतिहास और संस्कृति के विभिन्न पक्षों को लेकर शोध का प्रचलन काफी बढ़ा है। कहा जा सकता है कि लोगों में अपने क्षेत्र, जाति और विरासत को जानने-समझने की ललक बराबर बढ़ी है और संभवत: इसी कारण शोध के विषय भी इन्हीं अहातों में केंद्रित होते गये हैं। अपने अतीत का अध्ययन-विश्लेषण बहुत अच्छी बात है। इससे हम जान पाते हैं कि जीवन किन-किन पड़ावों से गुज़रा है और संघर्ष के आयाम क्या रहे हैं। लेकिन चिंता की बात यह है कि अधिकांश शोध विश्वविद्यालयों में उपाधियाँ प्राप्त करने, अकादमियों व संस्थानों की फैलोशिप व छात्रवृत्ति के तहत सुविधा के प्रलोभन तथा पुस्तक प्रकाशन की धुन में हो रहा है। अपवादों को छोड़कर न तो उपाधि के लिए व्यग्र शोध छात्र अपने विषय के साथ न्याय कर पाते हैं और न ही दुनियादारी में डूबे प्रोफेसर अपने दायित्व का निर्वाह कर पाते हैं। जो शोध-ग्रंथ सामने आते हैं उनका किसी भी स्तर पर सही मूल्यांकन नहीं हो पाता और इसी के फलस्वरूप इन शोध-ग्रंथों के प्रति शिक्षा व साहित्य जगत् में वितृष्णा का भाव आम धारणा का रूप ले चुका है। ऐसी स्थिति में हम यह सोचने के लायक भी नहीं रहते कि आखिर यह सब किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हो रहा है। मात्र उपाधि प्राप्ति के लिए किया गया स्तरहीन शोध आने वाली पीढ़ियों के लिए क्या छोड़ जाएगा, इसके क्या परिणाम होंगे, यह सोचते हुए भय होता है कि क्या निरर्थकता और निरुद्देश्यता में जीना ही लक्ष्य है! ऐसी स्थिति में जो स्वतंत्र शोधकर्ता कुछ महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं उसकी पहचान भी आसानी से नहीं हो पाती।

वास्तव में किसी भी शोधकार्य के मूल्यांकन की यथोचित प्रक्रिया जब तक पूरी निर्दयता के साथ कार्यान्वित नहीं हो जाती तब तक इस तरह के शोध की दिशा व दशा नहीं बदल सकती। विभिन्न माध्यमों द्वारा विद्वानों से करवाये जाने वाले शोधकार्य पर भी व्यापक बहस हो सके तो संशोधन व परिष्कार के बाद प्रामाणिक व उपयोगी सामग्री प्रकाश में आ सकती है।

हिमाचल प्रदेश में भी लोक साहित्य, अन्यान्य लोक कला-विधाओं और भाषा, इतिहास एवं संस्कृति को लेकर निरंतर शोध हो रहे हैं। एक ही विषय पर अनेक शोध छात्र दोहराव के साथ भी काम कर रहे हैं और शोध-ग्रंथों पर आधारित शोध-ग्रंथों का निर्माण तो बराबर होता ही है। इसमें बहुत कुछ उपयोगी और सार्थक भी है। लेकिन काफी मात्रा में ऐसी शोध सामग्री भी टंकित और प्रकाशित हो रही है जिसमें तथ्यों की प्रामाणिकता के अभाव के साथ ग़लत संदर्भों के प्रयोग भी देखे जा सकते हैं। विशेष रूप से लोक विधाओं को लेकर शहर में पुस्तकालयों से कतरने जुटाकर मेज़ों पर बैठकर जो पृष्ठ भरे जाते हैं उनमें कई बार हास्यास्पद बातें भी सामने आती हैं। किसी भी लोक विधा को लेकर शोध करने के लिए उससे सम्बन्धित क्षेत्र में सूक्ष्म अध्ययन

की आवश्यकता रहती है, जबकि इसके लिए शोधार्थियों के पास न तो लगन होती है न समय और साधन। फलस्वरूप सिरमौर, किन्नौर और भरमौर कई जगह एकमेव हो जाते हैं। इस तरह के शोध से जो साहित्य सामने आ रहा है, जाहिर है वही भविष्य के लिए संदर्भ का काम करेगा और इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि आगे आने वाला शोध कहाँ पहुँचेगा। भ्रांतियों के जंगल में भटकते शोधार्थियों को जिस स्थिति का सामना करना होगा वे निःसंदेह भयावह होगी। ऐसे स्तरहीन और भ्रामक शोध को लेकर यदि हम ज़रा ठहर कर सोचें तो यह अपने अतीत से लेकर भविष्य तक को गुमराह करने जैसा ही है। सुधी विद्वानों का आज के शोध क्षेत्र की ओर ध्यान आकर्षित करना इसलिए भी ज़रूरी है कि उनके दखल और सक्रियता से जो बहस हो सकेगी उससे हमारे ज्ञान के इस व्यापार में अवश्य कुछ सार्थक हो सकेगा।

इस अंक में 'वेद और हिमाचल' शीर्षक से डॉ. पद्म चंद्र काश्यप का एक शोध लेख गया है। डॉ. काश्यप ने यह शोध अपनी रूचि और लगाव से किया है और एक गोष्ठी में इसका पाठ भी हुआ है। डॉ. काश्यप इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी विषयों पर पहले भी पर्याप्त काम कर चुके हैं। इनके अध्ययन और अनुभव को देखते हुए इस लेख का महत्व भी बढ़ जाता है। लेकिन संभव है, इनकी सभी स्थापनों से लोग सहमत न हों और इसी विषय में कुछ नयी सूचनाएँ जोड़ने में भी सक्षम हों। तथ्यों और विश्लेषण की प्रामाणिकता को और अधिक पुष्ट करने के उद्देश्य से विद्वान पाठकों से प्रतिक्रिया की अपेक्षा रहेगी।

यथार्थ और उसकी समस्याएँ, शीर्षक यशपाल का अप्रकाशित निबंध भी इस अंक में शामिल है। यह उनके पूर्व प्रकाशित लेखों से जुड़ते हुए पाठकों के लिए उपयोगी होगा। समकालीन युवा कवियों की कविताओं के साथ इस अंक में कुल चार कहानियाँ दी गई हैं, जिनमें एक, चीनी लेखक द्वारा ही हिन्दी में अनूदित छोटी-सी चीनी कहानी है और 'भाषांतर' में एक उड़िया कहानी भी सम्मिलित है। इस दशक की कहानी को लेकर डॉ. धनंजय वर्मा का एक महत्वपूर्ण लेख तथा 'समीक्षा' के तहत भी पर्याप्त सामग्री है।

समकालीन हिन्दी कविता के महत्वपूर्ण कवि विनोद कुमार शुक्ल की कविताएँ 'पाहुन' स्तम्भ के अन्तर्गत दी गई हैं। वर्ष 1987 में मध्य प्रदेश के साहित्यकारों का जो दल हिमाचल प्रदेश की सृजनानुभव यात्रा पर आया था, उसमें विनोद कुमार शुक्ल सम्मिलित थे। पहाड़ों के इर्द-गिर्द रची गयीं उनकी इन कविताओं में—एकांत के फैलाव में एकांत को अकेला छोड़ देना, मनुष्य की आदिम अनुभूति में सांस लेना और मनुष्य ध्वनि कहते हुए सबसे ऊँचे पहाड़ के बारे में चिंतित होने जैसा जो कुछ है, इस सृजन में अनुभव के स्पर्श जहाँ-तहाँ स्पष्ट उभरते हैं।

भद्रमुख पर श्री सुरेन्द्र मोहन सेठी का लेख भी इसमें गया है और किन्नौर के मंदिरों के रेखांकन व परिचय का जो क्रम गतांकों से चल रहा था उसका यहाँ समापन होता है।

यथार्थवाद और उसकी समस्याएँ

□ यशपाल

प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कथा साहित्य में यशपाल का विशिष्ट स्थान है। वह सामाजिक यथार्थ के अग्रणी रचानाकार हैं। प्रस्तुत लेख यशपाल का एक अप्रकाशित लेख है। इसमें यथार्थवाद की समस्याओं, साहित्य में यथार्थवाद की भावना और यथार्थवादी रचना धर्मिता के उद्गम और विकास जैसे विषयों पर मौलिक विचार किया गया है।

यथार्थवाद की समस्याओं के सम्यक् विवेचन के लिए सम्भवतः यह विचार करना सहायक होगा कि हमारे साहित्य में यथार्थवाद की भावना और यथार्थवादी प्रणाली का उद्भव किस समय हुआ। अभिप्राय यह नहीं कि साहित्य अथवा कला के क्षेत्र में यथार्थवादी प्रणाली के उद्भव के पूर्व अथवा यथार्थवाद के सिद्धान्तों के समर्थक आन्दोलन से पूर्व भारतीय साहित्य में अथवा अन्य देशों के साहित्य में यथार्थ का आधार और यथार्थ का मेरूदंड वर्तमान नहीं था। सिद्धान्त रूप से यथार्थवाद का समर्थन करने वालों की आस्था है कि यथार्थ के आधार अथवा मेरूदंड के बिना उच्च श्रेणी के साहित्य की रचना हो ही नहीं सकती। यथार्थवादी इस बात का दावा नहीं कर सकते कि वाल्मीकि, कालिदास, वाणभट्ट, माघ, कबीर, सूर तुलसी, बिहारी, भूषण, भारतेन्दु, और यूरोप में फ्रैन्च क्रान्ति से पूर्व के साहित्यिक यथार्थवाद के सिद्धान्तों के प्रचारक थे अथवा यथार्थवाद की समस्या के प्रति सचेत और चिंतित थे। वे न इस बात से इंकार कर सकते हैं कि उन मनीषी कलाकारों की रचनाओं में यथार्थ का दृढ़ आधार और मेरूदंड वर्तमान है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि साहित्य में यथार्थ का आधार होना एक बात है और यथार्थवाद की समस्याओं से परेशान होना दूसरी। यथार्थवाद के साहित्यिक आन्दोलन से पूर्व भी सत साहित्य यथार्थ के आधार पर ही बनता रहा है। यथार्थ के प्रति विशेष चेतना अथवा यथार्थवादी आन्दोलन कुछ विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों और विकास के परिणामस्वरूप आरम्भ हुआ है।

हमारे देश के साहित्य में यथार्थवाद के प्रति विशेष चेतना और आधुनिक साहित्य में यथार्थ के लिए मांग 1930, 35 में उग्र रूप ले लेने वाली राजनीतिक चेतना से आरम्भ हुई है। और यही समय था जब हमारे देश के साहित्यिकों मे श्रेणी-संघर्ष द्वारा समाज के विकास-प्रक्रिया के सिद्धान्तों का परिचय पाया। इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि हमारे साहित्य में यथार्थवाद के अथवा यथार्थवाद के आधुनिक रूप के विशेष समर्थक वही लोग रहे हैं। और आज भी वैसे ही लोग उसके अनुमोदक हैं। जो श्रेणी-संघर्ष की प्रक्रिया को समाज के विकास का मार्ग मानते हैं। इसके विपरीत साहित्यिकों का वह वर्ग जो श्रेणी-संघर्ष की भावना को केवल हिंसापरक,

मानवता के ह्रास की प्रवृत्ति और समाज के लिए अहितकर मानता है, साहित्य में आधुनिक यथार्थ के प्रति विरक्ति प्रकट करता है।

हमारे आधुनिक साहित्य के संदर्भ में यथार्थवादी विधि के प्रयोग का अनुमोदन करने वाले कलाकारों के लिए यथार्थवादी संज्ञा तथा यथार्थवाद के अधुनिक रूप से अरूचि प्रकट करने वाले साहित्यिकों के लिए आदर्शवादी संज्ञा साधारणतया व्यवहृत की जाती है। परन्तु ये संज्ञायें दोनों पक्षों के वास्तविक साहित्यिक व्यवहार और मान्यताओं का पूर्ण और वास्तविक परिचय नहीं दे सकतीं। संज्ञायें केवल परिचायक संकेत मात्र होती हैं, वे वस्तु अथवा व्यक्ति के गुण-धर्म का परिचय नहीं दे सकतीं, उदाहरणतः सदा धन का अभाव अनुभव करते रहने वाले व्यक्ति का नाम श्रीपति, बिलकुल अनजाने आदमी का नाम यशपाल और सदा शोकातुर रहने वाले का नाम अशोक हो सकता है। इसी प्रकार यथार्थवादी साहित्यिक पक्ष में वास्तविक यथार्थ का अभाव या उसके प्रति भ्रान्त धारणायें और अपनी आकांक्षाओं, आदर्शों के प्रति अन्ध कट्टरता हो सकती और आदर्शवादी पक्ष में आदर्शो का विभ्रम आदर्शों की व्यावहारिकता के प्रति उपेक्षा और आधुनिक यथार्थ का यथेष्ट पुट भी मिल सकता है। टाल्सटाय के मूल्यांकन के प्रसंग में लेनिन ने कुछ इसी प्रकार की बात की है कि प्रतिक्रियावादी कलात्मक रचना में यथार्थवादी वस्तु हो सकती है और यथार्थवादी परिच्छेद में प्रतिक्रियावादी भावनायें छिपी रह सकती हैं।

यथार्थवाद की समस्याओं के सम्यक विवेचन के लिए यह विचार भी अप्रासंगिक न होगा कि आदर्श और यथार्थ शब्दों से क्या अभिप्रेत है। आदर्श क्या है, शायद यह प्रश्न बालोचित जान पड़े। बहुत सीधा उत्तर दिया जा सकता है कि व्यक्ति या समाज जिस अवस्था या लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, उसे अपना लक्ष्य समझता है। साधारणतः प्रत्येक समाज या व्यक्ति यह विश्वास करता है कि वह अपने आदर्शों को जानता है। आदर्शवादी पक्ष तो अपने आदर्शों की पूजा और प्राप्ति के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा है ही परन्तु यथार्थवादी पक्ष भी अपने आप को आदर्श और लक्ष्यहीन स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। आदर्शवादी यह तो कह सकते हैं कि यथार्थवादियों के आदर्श श्रेय नहीं हैं परन्तु वे यह नहीं कह सकते कि उनके सम्मुख आदर्श हैं ही नहीं। आदर्शवादी और यथार्थवादी पक्षों के लक्ष्यों में प्रकट भेद यह है कि आदर्शवादी पक्ष के आदर्श अतीत की मान्यताओं के अनुमोदन हैं और यथार्थवादी पक्ष के आदर्श हम लोगों द्वारा अपने समाज का विश्लेषण करके उनकी समझ और विश्वास के अनुसार समाज की विषमताओं को दूर कर सकने योग्य कार्यक्रम है। इस प्रकार हमें मानना पड़ता है कि भिन्न-भिन्न पक्षों के चिंतन और उनकी विचारधारा के अनुसार उनके आदर्शों में भेद हो सकता है और आदर्श अनेक हो सकते है। इसी को प्रकट करने के लिए प्रेमचन्द ने अपने यथार्थवाद का परिचय देते हुए उसे "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" की परिभाषा दी है, जिसे हमें यथार्थाश्रित आदर्शवाद भी कहते तो प्रेमचन्द आपत्ति न करते।

प्रश्न यह है कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में चिंतन और विचारधाराओं की पृष्ठभूमि के कारण आदर्शों में भेद हो सकता है उसी प्रकार भिन्न परिस्थितियों में चिन्तन और विचारधारा की पृष्ठभूमि के आधार पर अनेक लोगों के लिए एक ही घटना या स्थिति से भिन्न-भिन्न यथार्थो की अनुभूति हो सकती है। अर्थात् यथार्थ भी अनेक हो सकते हैं या यथार्थ को, दृष्टिकोण के कारण, अनेक रूपों में देखा जा सकता है। उदाहरणतः कालिदास द्वारा कैलाश की गुफा में शिव के कामातुर व्यवहार को हम श्रृंगार का उत्कृष्ट वर्णन और शाश्वत मूल्य का साहित्य समझें और किसी आधुनिक यथार्थवादी लेखक द्वारा ईख या अरहर के खेत में दीनू किसान के कामातुर व्यवहार का वर्णन केवल निन्दनीय अश्लीलता मात्र समझ लें। एक अवस्था में यथार्थ आदर के योग्य और दूसरी अवस्था में निरादर के योग्य हो जाता है।

किसी घटना या स्थिति के यथार्थ के विषय में हमारी धारणा और अनुभूति उस परिस्थिति के संबंध में हमारे संस्कारों और ज्ञान के आधार पर होती है। इसके लिए एक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा। कल्पाना कीजिए

कि नगर में रिक्शा की हड़ताल है। इस हड़ताल का कारण यह है कि रिक्शा के मालिकों ने सामान की महंगाई के कारण रिक्शों का दैनिक किराया बढ़ा दिया है। रिक्शा चलाने वाले इसे रिक्शा स्वामियों द्वारा अपने अधिक शोषण की इच्छा समझ कर उसका विरोध कर रहे हैं। रिक्शा स्वामियों की दृष्टि में हड़ताल का यथार्थ रिक्शा खींचने वालों का अन्याय जंचेगा जो उनकी सम्पत्ति का उचित किराया दिये बिना उसका व्यवहार करना चाहते हैं रिक्शा खींचने वाले हड़ताल के इस यथार्थ को स्वामियों की ओर से उनके अधिक शोषण के विरूद्ध आत्मरक्षा का प्रयत्न कहेंगे। नागरिकों में से साधारणतः व्यापारियों, मकान मालिकों की सहानुभूति रिक्शा मालिकों की ओर होगी और मजदूरों की, टांगा-इक्का चलाने वालों की रिक्शा खींचने वालों की ओर। परन्तु भारी असबाब साथ लेकर स्टेशन पर गाड़ी से उतरने वाले त्रिवेणी प्रसाद को इस हड़ताल का तथ्य अपने भाग्य की विडम्बना मात्र मालूम होगा। यह स्पष्ट है कि तीनों पक्ष इस रिक्शा हड़ताल को अपने संस्कारों, ज्ञान और विश्वास के दृष्टिकोण से समझेंगे।

ज्ञान और यथार्थ के संबंध को प्रकट करने के लिए हावर्ड फास्ट द्वारा दिये गये एक उदाहरण को दुहरा देना अप्रासंगिक न होगा। हम साधारणतः यह समझते हैं कि वायु चलने से वृक्ष हिलते हैं परन्तु वायु की गतिविधि के प्राकृतिक नियमों से अनभिज्ञ आदिम समाज के लोग यही समझते हैं कि वृक्षों के हिलने से वायु चलती है। स्पष्ट है कि किसी भी व्यक्ति के लिए कोई भी यथार्थ के विषय में व्यक्ति के ज्ञान पर निर्भर करता है। हमारे नित्य के जीवन में यथार्थ के विषय में दृष्टि का भेद ही सामने आता रहता है। हम सब अपने शासन में और व्यवसाय के क्षेत्र में सब ओर धांधली देखते हैं। बहुत से लोगों का या कहिए आदर्शवादी लोगों का विचार है कि हमारे समाज में चारों ओर फैली धांधली और अनैतिकता का कारण हमारे समाज के व्यक्तियों में नैतिकता और निष्ठा का अभाव है। परन्तु दूसरे लोगों की या कहिए यथार्थवादी पक्ष की धारण है कि चारों ओर फैली अनैतिकता और निष्ठा के अभाव का कारण समाज में समायी विषमताओं और सम अवसर के अभाव के अन्याय से है। व्यक्ति स्वभाव से अनाचारी नहीं है, विवशतायें उसे अनाचार के लिए विवश करती हैं।

हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि एक ही घटना, स्थिति अथवा यथार्थ की वास्तविकता भिन्न-भिन्न लोगों के लिए उन लोगों की भावाना और ज्ञान के अनुसार है। यथार्थ जो सबके सामने है और जो स्थूल रूप में सर्वसम्मत हो सकता है, उस दृश्य या अनुभूत यथार्थ में और उस यथार्थ की ग्राहयृता, समझ या पकड़ के भेद को स्पष्ट करने के लिए सहायक हो सकता है। इन दोनों यथार्थों के लिए भिन्न-भिन्न नाम अथवा संज्ञाओं का उपयोग करना सुविधाजनक होगा। दृश्य या अनुभूत यथार्थ के लिए अंग्रेजी में फिनोमेना शब्द का प्रयोग किया जाता है और ग्राहय् या प्राप्त हो जाने वाले, समझ और पकड़ में आ जाने वाले यथार्थ के लिए— जिसमें भिन्न-भिन्न लोगों के लिए भेद हो सकता है—नॉलेज या रियलिटी शब्दों का प्रयोग किया जाता है। हिन्दी में हम फिनोमेना शब्द का पर्यायवाची शब्द "माया" रख सकते हैं। माया हम सबको समान रूप से दिखायी दे जाती, उसे अनेक रूपों में भी देखा जा सकता है और हमारे लिए उसकी वास्तविकता, हमें उसका जो ज्ञान है, उस पर निर्भर करती है। माया के इस ज्ञान या उसके प्रति चेतना के लिए हम ब्रहम् शब्द का भी प्रयोग कर सकते हैं। और यथार्थ को ग्रहण करने के प्रयत्नों को माया और ब्रहम का द्वंद्व कहा जा सकता है और इस द्वंद्व का अर्थ है कि हमारा ज्ञान माया पर कितनी विजय प्राप्त कर सकता है।

यह सत्य है कि व्यक्तियों अथवा समाज के लिए माया और यथार्थ की वास्तविकता, व्यक्तियों और समाज के माया और यथार्थ के ज्ञान पर निर्भर करती है। इस प्रकार माया के ज्ञान का रूप आत्मगत होता है। परन्तु हमारे ज्ञान का आधार और तथ्य यथार्थ अथवा माया के तत्व को पहचानना ही है। हमारे ज्ञान का विकास या वृद्धि यथार्थ और माया की ठोस वास्तविकताओं या तत्वों को उत्तरोत्तर ग्रहण करने में ही है। अज्ञेय ने भी शायद

यही कहा है कि माया तत्व है और इस तत्व का हमें जो ज्ञान है वह हमारे लिए सत्य है। यथार्थ के वस्तु से अवगत होने या वस्तुगत होना ही सत्य ज्ञान का मार्ग है। जहाँ हमारा ज्ञान अथवा सत्य या विश्वास यथार्थ अथवा माया के तत्व की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, वहाँ उसे आगे बढ़ने के लिए बदलना पड़ता है। अर्थात हमारा आत्मगत ज्ञान ज्यों-ज्यों वस्तुगत होता है त्यों-त्यों वह भरोसे और विश्वास के योग्य होता है। जब हम अपने ज्ञान अथवा विश्वास के सत्य को यथार्थ और तत्व की कसौटी पर कसे बिना चलते है, या वस्तुगत होने, ब्रह्म को पहचानने का यत्न न कर आत्मगत बने रहते है। तो हमारे माया में उलझकर उद्‌भ्रान्त हो जाने की संभावना बनी रहती है। ऐसी ब्रह्म से हीन आत्मगत प्रवृत्ति हमें विकास की ओर नहीं ह्रास की ओर ले जाती है।

कला और साहित्य का प्रयोजन यदि समाज का विकास और कल्याण है तो हमारे सत्य और ज्ञान का समाज के यथार्थ और माया के साथ वस्तुगत होना नितान्त आवश्यक है। माया अर्थात् हमें घेरे प्रकृति और हमारा समाज परिवर्तनशील है। इसलिए माया और यथार्थ का ज्ञान तभी विश्वास योग्य हो सकता है जब वह माया और यथार्थ के परिवर्तनों को समझ कर समाज के कल्याण की आवश्यकतानुसार नये आदर्शों और लक्ष्यों का निर्माण कर सकें।

आदर्शवाद और यथार्थवाद के द्वंद्व का कारण यही है कि आदर्शवाद (माया) और यथार्थ के आत्मगत ज्ञान के अनुसार समाज के नियमन का समर्थन करता है, और यथार्थवाद समाज के यथार्थ और माया का वस्तुगत ज्ञान प्राप्त करता हुआ समाज के विश्वास और परिवर्तनों से उत्पन्न आवश्यकताओं के अनुसार लक्ष्यों का निर्माण कर उनके लिए प्रयत्न करना चाहता है।

आदर्शवाद के मार्ग को आत्मगत कहना चाहिए क्योंकि उसने समाज के अतीत में उपयोगी हो चुके आदर्शो को शाश्वत नैतिकता मान कर उन्हें शाश्वत आदर्श के रूप में ग्रहण कर लिया है। आदर्शवाद उन्हीं आदर्शों को समाज की बदली हुई परिस्थितियों या यथार्थ के भी अनुकूल मानता है। वह आधुनिक समाज को अतीत से परिवर्तित आधुनिक परिस्थितियों या यथार्थ में वस्तुगत दृष्टि से स्वीकार नहीं करना चाहता। इसलिए वह नवीन और परिवर्तित आदर्शों को भी नैतिक नहीं समझ सकता। आदर्शवाद सदा ही समाज की नियामक और शासक-श्रेणी और उसके अन्य अनुयायी और समर्थकों की विचारधारा का नैतिक अस्त्र रहा है। क्योंकि यह श्रेणी वर्तमान आदर्शों और व्यवस्था से लाभ उठा सकने के कारण उसमें परिवर्तन की आवश्यकता स्वीकार नहीं करना चाहती। यथार्थवादियों द्वारा परिवर्तन के प्रयत्नों का विरोध कर सकने के लिए यह वर्ग अतीत की नैतिकता से असंतोष को उद्‌भ्रान्ति कह कर अपना समर्थन चाहता है।

समाज में दलित और शोषित श्रेणी और उसके समर्थकों का झुकाव यथार्थवाद की ओर रहता है। यह वर्ग या श्रेणी यथार्थ की उपेक्षा न कर सकने के कारण आदर्शों में परिवर्तन की मांग करती है। आदर्शवाद और यथार्थवाद के द्वंद्व की यह प्रक्रिया आज हमारे साहित्य में यथार्थवाद के पक्ष में साहित्यकों और कलाकारों को आकर्षित कर रही है।

यथार्थवाद के सामने एक समस्या तो रही है साहित्य और कला के क्षेत्र में आदर्शवाद की आत्मगत प्रवृत्ति द्वारा अतीत के आधार पर बने विश्वासों की श्रृंखलाओं के स्थान पर आधुनिक यथार्थ के निकटतम वस्तुगत ज्ञान और प्रवृत्ति द्वारा समाज के विकास में सहायक होना परन्तु उतनी ही महत्वपूर्ण समस्या है यथार्थवादी प्रणाली का अनुमोदन करने वाले साहित्यिकों के लिए वस्तुगत प्रवृत्ति के मार्ग को सुस्पष्ट करना और वस्तुगत दृष्टि से साहित्य और कला के क्षेत्र में यथार्थवादी प्रणाली को यथासम्भव चरितार्थ कर सकने का उदाहरण पेश कर सकना।

जब कलाकार या साहित्यिक अपने समाज के यथार्थ से विचिछन्न होकर कला या साहित्य की सृष्टि करता

है तब समाज उसकी रचना में अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख पाता। ऐसी अवस्था में कलाकार के आदर्श भी समाज के लिए अव्यावहारिक और अविश्वसनीय हो जाते हैं। ब्रान्ड विटलाक के शब्दों में कहानी या उपन्यास का गुण यह है कि वह केवल यथार्थ के वर्णन की अपेक्षा सत्य से अधिक पूर्ण होती है। कथाकार की सार्थकता इसी में है कि वह पाठकों का अपने पात्रों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके उनके विचारों और भावनाओं को दिशा दे सकते परन्तु समाज की वस्तु और परिस्थितियों के यथार्थ से विच्छिन्न आदर्शवादी : उसे स्वप्नवादी कहना ही अधिक उचित होगा : साहित्य में यह क्षमता नहीं रहती। ऐसी कला का सबसे नया और जीवन्त उदाहरण जैनेन्द्र जी का नवीनतम उपन्यास 'जयवर्धन' है जिसे पढ़ते समय पाठक उसके पात्रों और पात्रों के समाज को देख या अनुभव नहीं कर पाते और उपन्यास में प्रतिपादित राज की संस्था के बंधन ओर दमन से मुक्ति के आदर्श के प्रति पाठक में न सहानुभूति होती है न उस आदर्श को क्षम्य समझता है। ऐसी रचना काठ के घोड़े के समान होती है। कलाकार तो अपनी रचना से उसी प्रकार संतोष पा लेता है जैसे लाठी को घोड़ा बनाकर चलने वाला बालक अपने घोड़े से संतुष्ट हो जाता है परन्तु पाठकों के लिए उस लकड़ी में घोड़े की प्रतीति नहीं हो सकती।

साहित्य और कला के क्षेत्र में आदर्शवाद और यथार्थवाद (उसीप्रकार आत्मगत और वस्तुगत के दृष्टिकोणों और व्यवहारों) को एक दूसरे से सर्वथा पृथक सीमाओं में नहीं बांट दिया जा सकता। इसका एक कारण यह है (क्योंकि जिस प्रकार) आदर्शवाद और यथार्थवाद कला की भावना को निर्दोष देखते हैं उसी प्रकार वें कला के शरीर अर्थात् फार्म को भी प्रभावित करते है। इसके साथ ही आदर्शवादी और यथार्थवादी प्रवृत्तियों से की हुई रचनाओं में आत्मगत और वस्तुगत दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं। कहानी के क्षेत्र में ऐसे भी उदाहरण मिल सकते हैं। जहाँ कथा के पात्र यथार्थ जीव हों, उनके शरीरों का निर्माण वस्तुगत दृष्टि से किया गया हो परन्तु पात्रों की भावनाएँ अतीत में आरोपित और आत्मगत हों और वे यथार्थ के आधार पर विकास और जनमुक्ति के लक्ष्यों की ओर बढ़ने के बजाय समाज को अतीत के आदर्शों की ओर लौटने की प्रेरणा देने का प्रयत्न करें। कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में इस प्रकार के उदाहरण हैं वृन्दावनलाल वर्मा की 'मृगनयनी' आदि और गुरूदत्त के उपन्यास।

हमारा समाज एक यथार्थ है और उस बृहत व्यापक यथार्थ के अंतर्गत व्यक्ति भी एक यथार्थ है। यथार्थ के क्षेत्र में इन दोनों यथार्थों के प्रति महत्व अथवा प्रवृत्ति में भी द्वंद्व की संभावना रहती है। जिसे समाजगत और व्यक्तिगत दृष्टिकोणें का भेद कहा जा सकता है। कोई भी कलाकार व्यक्ति यथार्थ और वस्तुगत प्रवृत्ति में बौद्धिक आस्था रखते हुए भी अवसर पर यथार्थ से सान्निध्य जमाये रखने से थककर या उससे भयभीत और व्यक्तिगत, आत्मगत या आत्मरत होने की प्रवृत्ति अनुभव कर सकता है। ऐसी अवस्था में कलाकार सामूहिक रूप से समाज की समस्या के लिए प्रयत्न करने की अपेक्षा स्वयं को समाज के संस्कारों और व्यवहार का शिकार अनुभव करने लगता है। वह द्वंद्व देखकर पलायन से अथवा आत्म करूणा से संतोष पाने का यत्न करता है। वह समाज के यथार्थ को अपने व्यक्तित्व पर अत्याचार के रूप में ही देखता है। ऐसी कला का उदाहरण हम अज्ञेय के उपन्यासों 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' में देख सकते हैं। ऐसी अवस्था में कला का शरीर तो यथार्थ के निकट वस्तुगत जान पड़ता है परन्तु उसके प्राण आदर्शवादी न होकर भी व्यक्तिगत और आत्मगत होकर स्वयं अपने में खो जाते हैं। जैसे इंधन के अभाव में आग की अवस्था होती है। परन्तु जिस समय अज्ञेय यथार्थ के आतंक से पलायन न कर उसका सामना वस्तुगत और समाजगत प्रवृत्ति से करता है तो वह शरणार्थी संग्रह की सबल रचनायें साहित्य को दे सकता है। कौन कलाकार किस समय वस्तुगत प्रवृत्ति से भटक कर व्यक्तिगत या आत्मगत प्रवृत्ति में उलझ सकता है, कहना कठिन है। इस कमजोरी का उपाय केवल लेखक का समाज के

यथार्थ के निकट सम्पर्क में रहना ही हो सकता है।

यथार्थवाद के व्यावहारिक क्षेत्र में दूसरी अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न होती हैं। प्रश्न है कि कलाकार समाज के यथार्थ का चित्रण और विश्लेषण किस उद्देश्य से करता है। यथार्थवाद के क्षेत्र में इस प्रकार की भी आत्मगत प्रवृत्तियों के धनी मौजूद हैं जो समाज के वर्तमान यथार्थ में से ऐसे मूर्तो या उन आदर्शों को या ऐसे पात्रों को खड़ा कर देना चाहते हैं। जो आज वास्तव में मौजूद नहीं। दूसरी ओर वे कुछ ऐसे यथार्थो पर पर्दा डाल देना उचित समझतें हैं। जो दलित वर्ग की ग्लानि उत्पन्न करने वाली वास्तविकतओं को प्रकट करते हैं। वे प्रत्येक रचना से यह भी आशा करते हैं कि श्रेणीहीन समअवसर प्राप्त समाज के निर्माण के सुझाव उनके सामने आ जायें। परन्तु ऐसी आत्मगत दृष्टि या आत्मगत लक्ष्य अयथार्थ काल्पनिक ही होंगे, यथार्थ कम। वे इस प्रवृत्ति के यथार्थवादी अयथार्थ मूर्त्तो की सृष्टि कर वायवीय आदर्शों का तो प्रतिपादन करना चाहते हैं। परन्तु समाज के कुसंस्कारों, वीभत्स यथार्थ की उपेक्षा कर उन्हें छिपे हुए कैन्सर की तरह छोड़ देना चाहते हैं।

अपने आप को यथार्थवादी कहने वाले क्षेत्र में इस प्रकार की प्रवृत्तियों का उत्तरदायित्व रचनात्मक लेखकों पर नहीं बल्कि आलोचकों पर ही है जो रचनात्मक लेखकों का लक्ष्य-लेखकों पर नहीं बल्कि आलोचकों पर ही है जो रचनात्मक लेखकों का लक्ष्य-निर्देश करना अपना अधिकार समझ बैठे हैं जो यह आशा करते है। कि समाज में मज़दूर श्रेणी का संघर्ष आरम्भिक अवस्था में होते हुए भी मज़दूर श्रेणी द्वारा समाज की व्यवस्था पर अधिकार कर लेने विश्वासोत्पादक चित्र प्रस्तुत कर दिये जा सकते हैं।

यथार्थवाद के कुछ अनुमोदक और आलोचक यथार्थवाद का अर्थ जीवन से अथवा जीवन के अनुभव से ही लिखना बताते हैं और जीवन के अनुभव से लिखने का अर्थ वे आँखों देखी या स्वयं के अनुभव में आयी घटनाओं को ही लिखना बताते हैं। कहानी और घटना के निर्माण में कल्पना का प्रयोग वे अयथार्थ अथवा कमज़ोरी समझते हैं यदि हम इस उपदेश को मानें तो यथार्थवादी प्रणाली का अर्थ दूसरे शब्दों में समाज की भद्दी फोटोग्राफी मात्र या पत्रकारिता की कला ही रह जायेगा। ऐसे यथार्थवादी यह भूल जाते हैं कि कला का अर्थ प्रकृति और समाज के मूर्तो को यथातथ्य प्रतिबिम्बित कर देना कला नहीं है। ऐसे प्रतिबिम्ब तो जलाशयों में स्वयं ही पड़ते रहते हैं। यदि आंखों देखे यथार्थ का ही यथातथ प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करना कला समझी जाय तो कालिदास, शेक्सपीयर, तुलसी, भारतेन्दु में से कोई भी कलाकार नहीं माना जायेगा। कला का काम प्रेरक शक्ति और रस तथा राग उत्पन्न करना है। प्रेरणा, रस और राग से रहित यथार्थ को बटोर लेना कला नहीं है।

जिन प्रेरणाओं को हम समाज में कदम-कदम पर पाते हैं। उनके लिए कल्पना से सजीव घटनाओं और पात्रों की सृष्टि कर सकना ही यथार्थवाद की कला है। कला यथार्थ को देख लेना या दिखा देना ही नहीं। कलात्मक प्रयोजन से यथार्थ को उत्पन्न कर सकना या उसका उपयोग कर सकना ही कला है। किसी भी दृश्य के सम्मुख खड़े होकर कैमरे को खोल देना और बन्द कर देना फोटोग्राफी की कला नहीं माना जायेगा। अच्छी फोटो लेने के लिए प्रकाश, छाया और मुद्रा के संयोग का अवसर देखना आवश्यक होता है। फोटोग्राफी का प्रयोजन छाया चित्र द्वारा किसी भाव या रस विशेष का उद्रेक करना रहता है कोई मूर्त्त या किसी घटना की वास्तविकता यथार्थ नहीं होती। यथार्थ तो उस संयोग को उत्पन्न करने वाले कारणों और उससे उद्भूत परिणाम ही होते हैं।

यथार्थवाद का अर्थ यथार्थ के लिए यथार्थ अथवा यथार्थ की पूजा मात्र नहीं है। साहित्यिक यथार्थवाद रस, राग उत्पन्न कर सकने के लिए यथार्थ का विश्वास उत्पन्न कर सकने की कला है।

यथार्थवाद पर आदर्शवाद का यह आरोप हैकि वह भोगपरक है, पार्थिव भोग की आकांक्षा के उत्साहित करता है। भोग वृत्ति को हम बुरा इसलिए कहते हैं कि वह हमें जीवन की उच्च भावनाओं और जीवन की सूक्ष्मताओं के प्रति उपराम कर देती है। व्यक्ति या समाज को हम धन या भौतिकता की पूजा में डूबा हुआ तभी कह सकते

है जब वह धन को धन के लिए या वैभव के लिए बटोरता चला जाता हैं परन्तु यथार्थवाद धनिकों के और अधिक धन और साधनवानों के और अधिक साधन बटोरने का समर्थन नहीं विरोध करता है। यथार्थवाद तो अभाव की पूर्ति के लिए प्रयत्न को उत्साहित करता है। भूखे का भोजन की इच्छा करना और न रंगे का कपड़ा पाने की इच्छा करना भोगवाद नहीं कहा जा सकता। यथार्थवाद तृप्ति के लिए यत्न का समर्थक तो है परन्तु अतृप्ति का अनुमोदक नहीं हैं। यथार्थवाद किसी भी व्यक्ति की आर्थिक प्रभुता का समर्थन न कर आर्थिक प्रजातंत्रवाद की मांग करता है।

यथार्थवाद पर दूसरा आरोप उसमें नग्नता का तथा प्रचारवादी होने का है। कोई भी अच्छा डाक्टर रोग का निदान रोगी के शरीर को निरावरण किये बिना नही कर सकता। इसी प्रकार जब यथार्थवादी कलाकार समाज की कलीवताओं, विरूपताओं और विषमतओं के प्रति चेतना प्रकट करना चाहता है अथवा उसकी मूढ़ताओं के प्रति विरोध जगाना चाहता है तो उनहें ढककर नहीं रखे रह सकता । गन्दगी को दूर करना हो तो उसे आंखों से ओझल रखकर संतोष नही किया जा सकता। जिसे हम दूर करना चाहते हैं उसे सर्वथा निराकरण कर देना आवश्यक होता है।

यथार्थवाद पर लगाये गये प्रचार के आरोप के सम्बन्ध में विचार करते समय यह स्मरण रखना होगा कि कलाकार साहित्य की रचना अभिव्यक्ति के लिए करता है। वही अभिव्यक्ति सार्थक या कलात्मक समझी जा सकती है जिसमें कुछ व्यंजना हो, गर्भित अर्थ हो, जिसमें कुछ भावना हो या जिसमें कुछ विचार हो। अभिव्यक्ति अथवा साहित्य का प्रयोजन कलाकार की भावना या विचारों को दूसरों तक पहुँचाना, उनका प्रसार या प्रचार करना होता है। विचारपूर्ण साहित्य अवश्य ही प्रचारात्मक होगा, केवल विचार अथवा भावनाहीन साहित्य प्रचारहीन हो सकता है। जब कलाकार अपने पाठकों के जीवन के उद्देश्यों तथा विचारों के लिए भी सहानुभूति उत्पन्न करता है। जब वह कुछ पात्रों के प्रति विरोध अथवा ग्लानि उत्पन्न करता है तो वह उनके (पाठकों) व्यवहार तथा विचारों के प्रति विरोध और ग्लानि उत्पन्न करता है। वाल्मीकि जब मर्यादा पुरूषोत्तम राम के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करते हैं तो कुछ मर्यादाओं के प्रति आस्था उत्पन्न करने के लिये प्रचार करते हैं। कालिदास रघुवंश में राजा के व्यवहार के लिए मर्यादा उपस्थित करते हैं। शकुन्तला नाटक में कालिदास जब दुष्यन्त द्वारा ठुकराई जाने पर भी शकुन्तला की निष्ठा से पति की स्मृति में दुःख सहने के लिए करूणा उत्पन्न करते हैं। तो एक पति धर्म के प्रति निष्ठा की भावना का प्रचार करते हैं। किसी भी निष्प्रयोजन कहानी को कला की दृष्टि से सफल बता देना संभव नहीं होगा। यह बात नैतिकता के आदर्शो से सम्बन्ध रखने वाली रचनाओं के लिए ही नहीं अपितु प्रेमाख्यानों के प्रति उतनी ही सत्य है। इस दोष से रवि ठाकुर भी मुक्त नहीं है। उदाहरणतः रोमियो जूलियट के प्रसिध; आख्यान पर अब तक प्रचारात्मक होने का आरोप नहीं किया गया। शेक्सपीयर ने इस नाटक में पाठकों अथवा दर्शकों के मन में नवयुवकों के विवाह सम्बन्धों पर माता-पिता के अधिकार के प्रति विरोध की भावना और नवयुवकों के स्वयं अपने प्रेम पात्र चुन लेने के अधिकार के प्रति सहानुभूति उत्पन्न की है। हम यों भी कह सकते हैं कि रोमियो जूलियट नाटक प्रेम की समस्या के सामंतवाद के युग से पूंजीवाद के युग में कदम रखने की घटना है।

यह एक विडम्बना है कि परम्परागत आदर्शों के प्रचार के लिए लिखा साहित्य प्रचारात्मक नहीं माना जाता परन्तु समाज की वर्तमान स्थितियों से उत्पन्न नये विचार और आदर्शों के प्रति संकेत करना प्रचार समझा जाता है। इसका कारण बहुत हद तक समाज के परम्परागत विश्वास और मानसिक अभ्यास ही हैं परन्तु थोड़ा बहुत दोष इसमें यथार्थवादी लेखकों का भी मानना होगा।

प्रचार यथार्थवाद का दोष नहीं है परन्तु भोंड़ा प्रचार यथार्थवादियों की कमजोरी है। यदि यथार्थवादी लेखक

अपने विचारों के लिए सहानुभूति उत्पन्न करने के लिए कलात्मक रचनायें नहीं उत्पन्न कर सकते तो यह उनकी कमजोरी है। कुछ यथार्थवादी आलोचकों ने सूक्ष्मता को और कलात्मकता को ही कमजोरी मान लिया है। व्यंजना को वे समझ ही नहीं सके और यथार्थवादियों से उद्‌भट प्रचार के तकाजे करते रहे है। वे ही लोग बहुत हद तक यथार्थवादी पक्ष में कलात्मक सूक्ष्मता के विकास में बाधक बनते रहे है। ❐

प्रस्तुति : डा. ब्रम्हदत्त शर्मा

वर्तमान दशक की हिन्दी कहानी

❒ डॉ. धनंजय वर्मा

वर्तमान दशक की हिन्दी कहानियों का औसत प्रभाव कुछ ऐसा पड़ता है कि आप शान्त न बैठे रह सकें, क्षोभ से तन जायें या आपका आराम और आपकी नींद हराम हो जाय। ये कहानियाँ आपकी चेतना को भीतर से खंगालकर कहीं आप में एक खलबली मचाने को तत्पर दिखती हैं। कहानियों के प्रसंग अलग हैं, स्थितियाँ मुख़्तलिफ़ हैं और वृत्तियाँ विरोधी हैं लेकिन इनसें उभरने वाला आदमी एक है : पीड़ा में बिलबिलाता, आक्रोश में उबलता, लाचारी और मजबूरी से पस्त और निढ़ाल इन कहानियों का संसार दिवास्वप्नी लगता है लेकिन कहीं बहुत गहरे स्तर पर हमारी वास्तविकता को खोलता हुआ भी है।

ये कहानियाँ अपने बदले हुये तेवरों से काफी उत्तेजक और ललकारने वाली लगती हैं : संक्षोभक, आक्रामक और दंडसंहिता के तहत आप इन्हें कहीं संदेहास्पद भी कह सकते हैं। इनका अपराध इतना है कि ये आप के, हमारे आधारभूत सवालों से टकराती हैं। समय, समाज और जीवन की नृशंस सच्चाइयों से साक्षात्कार कराती हैं। इनमें लगातार भयावह और तनाव भरे दृश्य और स्थितियाँ उभरती हैं और सीधे उस नरक में ले जाती हैं जो हमारे भीतर और बाहर है, लेकिन हमारा बनाया हुआ नहीं है, बल्कि बलात हम पर थोप दिया गया है। ये टूटने से शुरू होती हैं और तोड़ना ही चाहती हैं। किसी भी सुधार में अब इनका विश्वास नहीं है। अब तो वे सीधे लगभग हिंसक होकर वार करने की मुद्रा में हैं। ये केवल निजी या आत्मीय क्षणों की कहानियाँ नहीं हैं या कि इनका निजी और आत्मीय क्षण भी परिवेश की व्यापक सच्चाइयों से अन्वित, उसका ही एक ज़रूरी हिस्सा है। इनका यथार्थ और वास्तविकता, अस्तित्व के सारे उलझाव और जटिलता को खोलने का उपक्रम है। दरअसल इनके संदर्भ में यथार्थ और वास्तविकता काफी सौम्य शब्द लगते हैं, ये तो आज की नंगई और असलियत को उजागर करना चाहती हैं।

किसी भी स्थिति के प्रति इनका रुख़ अब वह नहीं रह गया है जिसे सौंदर्यवादी कहा जाता रहा है। मौजूदा स्थितियों ने हमारी सारी सौन्दर्य संवेदना को लगभग तहस-नहस करके रख दिया है अतः अब इनका रुख़ भी भागीदार और भोक्ता का हो गया है। ये तो सीधे तथ्य को उसके उधड़े-उधड़े रूप में देखने-दिखाने की कोशिश करती हैं। इनमें जनता की बगावत की भंगिमा और आवाज़ है और इसीलिए इनकी भाषा में कहीं भी ठंडापन या निर्जीवता नहीं है। गुस्से से भरी हुई, खीझ और एक लगभग उन्माद से अस्तव्यस्त या फिर विस्फोटक हैं। कहीं गहरे स्तर पर ये सारी की सारी कहानियाँ राजनीतिक हैं। लेकिन इनकी राजनीति खेमों में बंटी दलगत राज़नीति नहीं है, दरअसल ये अपने गहन राजनीति विरोध में राजनीतिक हैं। ये न तो किसी को माफ़ करती हैं और न किसी को छोड़ती हैं। कलाकार की तटस्थता का नाम लेकर ये सामाजिक और राजनीतिक नृशसताओं

से उदासीन नहीं हैं। आदमी को इस स्थिति तक पहुँचाने वाली व्यवस्था और तंत्र पर ये सीधे चोट करती हैं। अभी हाल तक फैशन की बतौर जिस संत्रास का जाप अस्तित्ववादी मुहावरों में होता रहा था उस संत्रास को अब ये समय और देश में केन्द्रित करती हैं। ये इस निष्कर्ष पर पहुँचा रही हैं कि सारा संत्रास किसी नियति का दिया हुआ नहीं है वह तो बहुत सचेत व्यवस्था और तंत्र का किया हुआ मानव विरोधी षड्यंत्र है। शायद इसीलिये अपने समय, समाज और उसके यथार्थ को अभिव्यक्त करने में ही उनकी रूचि नहीं है, वे तो अपने वक़्त से एक जिरह करती हैं। कहानीकार आत्माभिव्यक्ति के बदले अपने समय और समाज से मानों एक तीखे विवाद और अभियोग की मुद्रा में है। विवाद और अभियोग, जो ठहराव और यथास्थिति को कहीं अंदर-बाहर से तोड़ने के सक्रिय साहस से जुड़ा है, जो जलते हुये सवालों से टकराने से उपजा है।

गौर करें तो यह एक फिर संक्रमण की-सी स्थिति है या फिर पूरे एक बदलाव की। यह सब इतना तेज और तल्ख है कि यक-ब-यक उसकी अवधारणा और बोध भी मुश्किल मालूम होता है। इस बदलाव में क्रम या निरन्तरता उतनी नहीं है जितना कि अन्तराल या कि अलगाव। बेहतर हो कि किसी एक नुक़्ते पर हम इसकी पड़ताल करें।

मुद्दा मानव संबंधों का ही लीजिए। कहानी या तो उपजती ही इसी से है या फिर इनके तनाव में से आदमी को उकेरती है; तो एक तात्कालिक नज़र में इधर की कहानियाँ मानवीय संबंधों के विघटन और संकट को उजागर करती हैं। यह विघटन और संकट तो पहले भी था, लेकिन पहले किसी हद तक संबंधों की गरिमा और आदर्श के प्रति एक भावात्मक लगाव नुमायां होता था। कहानियों में संबंधों की संक्रान्ति को रेखांकित तो किया जा रहा था लेकिन फिर भी एक अनाम-सा आदर्शवादी रुझान बाकी था, एक करुणा उपजाती सी मानसिकता थी। अब इधर आकर इन कहानियों में संबंधों को उनके खुल्लमखुल्ला नंगे रूप में देखने-दिखाने की प्रवृत्ति बढ़ी है। इन युवा लेखकों ने जिस सामाजिक वातावरण में आँखें खोली हैं उसमें सारे मानवीय संबंधों की गरिमा, सारे नाते-रिश्ते यक-ब-यक टूटते नज़र आये हैं, यों कि एक ढूह पर बैठे हों या कि एक उजाड़ और सुनसान बयाबां इनकी चेतना को ढ़ाँपता जा रहा हो। फिर इन्होंने पाया है कि सारे संबंध व्यवस्था के चलते टूट चुके हैं या चरमरा रहे हैं इसलिए अब उनका गुस्सा संबंधों पर नहीं उस व्यवस्था पर है जिसने इन्हें तोड़ा और अमानवीयकृत कर दिया है। वे मानवीयता को किसी भावुक और आदर्शवादी लिबास में देखना नहीं चाहते उसकी यथार्थ और वास्तविक ज़मीन पर देखते हैं। किसी भी तरह के संबंध को न मानने का मतलब हमेशा गैर ज़िम्मेदारी नहीं होता। संबंधों का इंकार कहीं मिथ्या संबंधों या संबंधों के मिथ्यात्व को तोड़ना भी हो सकता है।

इसी धरातल पर वर्तमान दशक की कहानियों में आया हुआ एक अन्तर और देखा जा सकता है। संबंधों की जटिलता, उनका तनाव और टूटन का अहसास तो पिछली कहानियों में भी मिल जायेगा लेकिन इधर की कहानियाँ उसके प्रति अधिक जागरुक और तथ्यपरक हो गयी हैं। पिछली कहानियों में संबंधों की जो जटिलता तनाव या कि टूटन थी वह कहीं असुरक्षा के भय से उत्पन्न लगता था। उसमें संवेदना एक राग, एक करुणा में डूबी मानसिकता नज़र आती है और मूल्य दृष्टि के लिहाज से भी पुरातन के प्रति एक आम आकर्षण और ममत्व भी उनमें है। लेकिन आज का युवक ऐसा नहीं है। उसका रोज़मर्रा संघर्ष उसे इस मानसिकता में नहीं रहने देता। मानव मूल्यों में उसकी आस्था तो है लेकिन उसे वे फिलहाल कहीं दिखायी नहीं देते। उसे दिखता है तो रग-रग, शिरा-शिरा को तोड़ने वाला एक संघर्ष जिसने आदमी को इतना गिरा और अमानवीयकृत कर दिया है। संबंधों की यांत्रिकता और व्यावसायिकता और अमानवीय जड़ता अब उसकी करुणा का विषय नहीं है, अब तो वह सीधे सीधे इस सबके लिये जिम्मेदार व्यवस्था पर चोट करना चाहता है और बिल्कुल शुरू में से ही शुरू करने को उतावला है।

इन कहानियों के चरित्र आत्मग्लानि और पश्चाताप से भरे हुये भी लगते हैं उनमें एक किस्म का नगण्यता-बोध भी दिखता है लेकिन यह सब अब अस्तित्ववादी दार्शनिकता में लपेटकर परोसा गया नहीं है उनके प्रति एक आत्मजागरुकता और परिवेश की तीखी चेतना भी समाहित हो गयी है। वह अब समझ गया है कि यह नृशंस और चालाक अर्थ तंत्र और व्यवस्था का ही षड्यंत्र है। जिसे हम दलित साहित्य के नाम से जानते हैं उसमें यह फेनामेना अधिक प्रखरता से देखा जा सकता है। अब इनके पात्र व्यवस्था की दी हुयी शर्तों पर नहीं, अपनी शर्तों पर जीना चाहते हैं इसीलिये वो अपने आसपास चारों तरफ, हर दिशा में प्रश्न चिह्न लगाते से नज़र आते हैं। हर चीज़ पर अभियोग और हर सिम्त सवाल। उनके पास दरअसल उत्तर तो हैं ही नहीं उत्तर होते तो इतना बदहवास और बेचैन वह न होता। उसके पास तो सवाल हैं, सवाल-दर-सवाल और सबके सब सही, जो कहीं उसकी सही दिशा की सोच को उजागर करते हैं।

वर्तमान दशक की कई-कई कहानियाँ जिन्हें एक-एक कर यहाँ गिनाना या कि उनका विश्लेषण करना यहाँ मुमकिन नहीं है; लेकिन उन सबका एक समग्र प्रभाव यह कहने पर ज़रूर मज़बूर करता है कि एक कृत्रिम अलगाव और फैशन के हल्ले के बाद कहानी अब फिर अपने मूल की ओर लौट रही है याने कि कहानी के अपने मुहावरे की ओर। उसकी चिन्ता अब विधा की, कहानी की मुक्ति की नहीं है, वह तो आदमी की मुक्ति के संघर्ष में लगे आदमी की आवाज़ है। इस कोशिश ने ही उसे काफी हद तक विधागत रूढ़ियों से मुक्त भी कर दिया है। अब कहानी वर्णन, विवरण ही नहीं संवाद और संबोधन से भी आगे बढ़कर ज़िरह और अभियोग हो गयी है। आज के कहानीकारों को कहानी की औपचारिक रूपवादी शर्तों की चिन्ता नहीं हैं, उन्हें चिन्ता है तो बस अपने जलते-उबलते अनुभवों-प्रतिक्रियाओं, एहसासात को जस-का-तस पाठकों तक पहुँचाने की। कहानी की औपचारिक रूपवादी जकड़न इन्हीं से टूटती है और शायद कहानी बनती भी यहीं है। ये कहानीपन से अधिक अपने अनुभव के कसकते दुखते मूल से जुड़ी हुयी हैं और उनके आतंककारी प्रभाव को कहने के लिये उतावली हैं। आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि इनको पढ़नेवाला पुराना संस्कारी पाठक या कि आलोचक इनसे संतुष्ट न हो। संतुष्ट करना इनका मकसद ही कहाँ है? दरअसल इनका जीवन अनुभव ही इतना दुर्धर्ष और आप्लावनकारी है कि अनुभव की पुनर्रचना का मौका ही नहीं है। वर्तमान पीढ़ी अपनी नंगी आँखों से जो नंगी सच्चाई देख रही है उसने सारी भयावह फैन्टेसी और आतंककारी तिलस्म तक को तो मात कर दिया है। उसे सहना, झेलना और फिर कहना क्या इतना आसान है? इसीलिए उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों में एक अकुलाहट है एक छटपटाहट है, असंतोष है कि सारी सौन्दर्य शास्त्रीय प्रक्रिया विपर्यस्त हो गयी है, भाषा जवाब दे जाती है। एक हराता तूफान है जो सारी स्वीकृत भाषा और रचनाविन्यास को छिन्न-भिन्न कर देता है। लेकिन इसका मतलब इनकी रचनात्मक सामर्थ्य की कमी नहीं है। दरअसल इनकी रचनात्मकता ही भिन्न और बदली हुई है। उसकी सामर्थ्य की एक पहचान तो यही है कि वे सचेत करती और चौकन्ना बनाती हैं। सहभोग और सहभाग की बजाय अब वे उद्विग्न और बेचैन करती हैं। □

[एम-433/ई-7, अरेरा कालोनी, भोपाल-462016]

पाँच कविताएँ

☐ विनोदकुमार शुक्ल

जो शाश्वत प्रकृति है उसमें पहाड़ हैं

जो शाश्वत प्रकृति है उसमें पहाड़ हैं
उनकी चट्टानों, पत्थरों में
बार बार उगते पेड़ और वनस्पतियाँ हैं
वहाँ मैं जा रहा हूँ
वहाँ ऐसा एकांत हिमांचल है
कि कोई पहले गया न हो
वे मनुष्य की राह देख रहे हैं
वे पर्वत, श्रेणियों में उसी तरह स्थिर हैं
जैसे चित्र खिंचवाने के लिए
एक समूह होता है बाहर
उनके बीच एक मेरी जगह है
वहाँ मैं अटल स्थिर हो जाऊँगा क्या?
मैं स्थिर नहीं होऊँगा
घूमूँगा, दौडूँगा, हँसूँगा, चिल्लाऊँगा, रोऊँगा,
कि इस एकांत में पहाड़ों को
यह याद न आये कि एक समय था
जब पृथ्वी में मनुष्य नहीं थे
शायद उन्हें वह समय याद आ रहा हो
जब पृथ्वी में मनुष्य नहीं थे

धौलागिरि को देखकर

धौलागिरि को देखकर
मुझे याद आई
धौलागिरि की तस्वीर
क्योंकि तस्वीर पहले देखी गई थी।

पितामह पूर्वजों के भी चित्र हैं घर में
पूर्वजों को मैंने कभी नहीं देखा
मैं पूर्वजों को नहीं पूर्वजों के चित्र याद करता हूँ।

लेकिन धौलागिरि को देखने के बाद
मैं अपने पूर्वजों के चित्र नहीं
पूर्वजों को याद करता हूँ।

Hira Lal Thakur
BADAH P.O. MOHAL
KULLU-175126 H.P

जहाँ पहाड़ हैं क्षितिज पर

जहाँ पहाड़ हैं क्षितिज पर
वहाँ आकाश नीचे कम उतरा है—
पहाड़ शिखरों की श्रृंखलाओं से
जो क्षितिज बना है।
वहाँ मेरे एकांत का भी एक शिखर है
एक शिखर वहाँ कहीं पहुँचने की इच्छा का है
एक शिखर वहाँ कहीं नहीं पहुँच सकूँगा का है।

इस मैदान में आकाश को क्षितिज के लिए
बहुत नीचे उतरना पड़ता है
मैदान के फैलाव में
एक फैलाव मेरे एकांत का है
दूर तक इस दूरी का फैलाव
कहीं नहीं जा सकने का है
मैं जहाँ हूँ, वहाँ मेरा एकांत है
और जहाँ नहीं वहाँ मैं
एकांत के साथ नहीं हूँ
वहाँ मैंने एकांत को अकेला छोड़ दिया है।

मानुष मैं ही हूँ

मानुष मैं ही हूँ
इस एकांत घाटी में
यहाँ मैं मनुष्य की
आदिम अनुभूति में
साँस लेता हूँ।

ढूँढ़कर एक पत्थर उठाकर
एक पत्थरयुग का पत्थर उठाता हूँ।

कल कल बहती ठंडी नदी के जल को
चुल्लू से पीकर
पानी का प्राचीन स्वाद पाता हूँ।
मैं नदी के किनारे चलते-चलते
इतिहास को याद कर
भूगोल की एक पगडंडी पाता हूँ।

संध्या की पहली तरैय्या
केवल मैं देखता हूँ।

चारों तरफ प्रकृति और प्रकृति की ध्वनियाँ हैं
यदि मैंने कुछ कहा तो
अपनी भाषा नहीं कहूँगा
मनुष्य ध्वनि कहूँगा।

मैं अदना आदमी

मैं अदना आदमी
सबसे ऊँचे पहाड़ के बारे में चिंतित हुआ
इस चिंता में मैं बाहर ही बाहर रहा आया
एक दिन इस बाहर को कोई खटखटाता है
जैसे आकाश धरती को खटखटाता है
हवा को खटखटाता है
जंगल के वृक्षों

एक एक पत्तियों को खटखटाता है
देखों तो आकाश के नीचे
खुले में हैं
साथ में कोई नहीं है
दूर तक कोई नहीं
पर कोई इस खुले को खटखटाता है।

कौन आना चाहता है?
मैं कहता हूँ
अंदर आ जाइये
सब खुला है
मैंने देखा मुझे
हिमालय दिख रहा है।

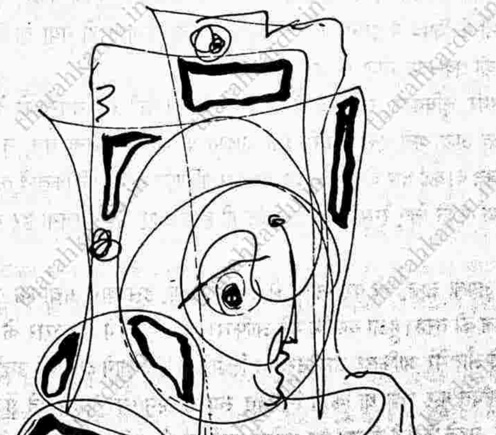

कहानी

पाँच का नोट

❑ डॉ0 नरेश

बड़े दिनों से मन में चाह थी पंजाब देखने की। इतना कुछ सुन-पढ़ रखा था पंजाब के विषय में कि जी चाहता, महीना दो-महीना पंजाब के विभिन्न नगरों में घूमकर वहाँ की एक-एक चीज़ को छूकर देखूँ, अनुभव करूँ। जलियाँवाला बाग देखने की इच्छा तो अदम्य ही थी। अमृतसर के प्रति एक अद्भुत आकर्षण मेरे मन में दबा हुआ था। आदिकवि वाल्मीकि का आश्रम 'रामतीर्थ', स्वर्ण मंदिर, बाबा अटल, राम बाग आदि ऐतिहासिक स्थानों के विषय में इतना कुछ पढ़ चुका था कि विश्वास हो गया था कि जब भी अमृतसर जाना होगा, तब वहाँ की एक-एक चीज़ से अपनापन झलकेगा।

जालधंर, लुधियाना, सरहिन्द और न जाने कितने छोटे-बड़े नगरों को देखने की अभिलाषा थी मन में, लेकिन सीमित आय वाले एक नौकरी पेशा आदमी के पास न इतना धन, न कोई सुविधा कि जहाँ का मन हो, उठकर चल दे। कई बार योजना बनाई, हर बार परिणति में मुन्ने की किताबें कापियाँ, गुड्डी के स्कर्ट-फ्रॉक, पूनम की साड़ी या अपने लिए रैग्स के स्वेटर-कोट ही हाथ आए और योजना हर बार अगले साल पर टलती चली गई।

वह अगला साल, जो कई सालों से टल रहा था, इस बार अचानक आ टपका। छप्पर फाड़कर बरसने वाले बादल की तरह। हुआ यह कि मेरे आफ़िसर की लड़की ने अमृतसर के मेडीकल कालेज से अपनी पढ़ाई पूरी कर ली और मेरे आफ़िसर आज उसे घर लिवाने के लिए जाने वाले थे। उन्होंने बेटी को पत्र-तार-फ़ोन, हर माध्यम से सूचित कर रखा था कि वे निश्चित रूप से अमृतसर पहुँच रहे हैं। आने को तो वह अकेली भी आ सकती थी, पहले कितनी ही बार वह अकेली आई-गई थी, लेकिन इस बार उसे अपना सारा साज़-सामान लेकर आना था। इसलिए किसी न किसी मर्द का साथ होना ज़रुरी था। मेरे आफ़िसर को अचानक उनके आफ़िसर ने एक ज़रुरी काम के लिए बम्बई बुला लिया और उन्होंने मजबूरन मुझे अपना व्यक्तिगत उत्तरदायित्व सौंप दिया। इस बात का तो मुझे कोई सन्तोष नहीं था कि मेरे आफ़िसर ने मुझे भरोसे के लायक समझा लेकिन इस बात को लेकर मेरा मन बल्लियों उछल रहा था कि मैं आफ़िसर के खर्चे पर अमृतसर जा रहा था। चाहता था मेरा पंजाबी आफ़िसर जालंधर, लुधियाना, पटियाला आदि स्थानों पर भी कुछ निजी काम मेरे ज़िम्मे लगा दे ताकि मैं पंजाब के कई शहरों की यात्रा कर सकूँ।

आफ़िसर का पी. ए. काफी चुस्त-चालाक आदमी है। उसने दो घण्टे में आफ़िसर का फर्स्ट-क्लास का रिज़रवेशन कैंसिल कराकर मुझे वी. आई. पी. कोटे में से सेकेण्ड का रिज़रवेशन ले दिया। साधारण आदमी को तो महीना भर पहले भी आरक्षण नहीं मिलता लेकिन पी. ए. ने तो जैसे करिश्मा ही कर दिखाया। मेरे आफ़िसर

ने टिकट मेरे हाथ में थमाकर मेरे प्रति ज़रुरत से ज़्यादा आत्मीयता दिखाते हुए मुझे कई हिदायतें पिला डालीं और मैं शाम पाँच बजे की डीलक्स में सवार हो गया। आफ़िसर को क्योंकि मेरे पंजाब देखने के उत्साह की भनक तक न थी, इसलिए उसका पी. ए. मुझे स्टेशन पर सी-ऑफ़ करने आया। इस बहाने वह यह निश्चय कर लेना चाहता था कि मैं वाक़ई गाड़ी में सवार होकर चल दिया हूँ।

बड़ौदा से गाड़ी चली तो शाम हो चुकी थी। बिस्तर-इस्तर ठीक करते-कराते, अँधेरा हो गया और सिवाय इसके कोई चारा न था कि अपनी बर्थ पर लेटकर तब तक पत्रिका के पन्ने उलटे जाएँ जब तक नींद नहीं आ जाती।

वास्तव में मैंरेलगाड़ी में पढ़ने या दूसरे लोगों के साथ बतियाने के सख़्त ख़िलाफ़ हूँ। पढ़ने के लिए घर पर कौन-सा कम समय होता है। बेकार बतियाने का शौक़ मुझे कभी रहा ही नहीं। आस-पड़ौस के लोगों से परिचय करना भी मेरे स्वभाव के प्रतिकूल है। जिन लोगों का सफर भर का साथ हो उनके विषय में जानकर लेना क्या है। बेकार माथापच्ची किए जाओ—कहाँ के रहने वाले हैं आप, कहाँ से आ रहे हैं, कहाँ को जा रहे हैं? भला कोई पूछे कि आपको मतलब? कोई कहीं का हो, कहीं से आ रहा हो, कहीं को जा रहा हो, आप ख़ामख़्वाह की जनरल-नॉलेज क्यों एकत्र कर रहे हैं? लेकिन लोग हैं कि इन सवालों के बग़ैर सफ़र ही नहीं कर सकते। मैंतो ऐसा बहुत सफ़र भी नहीं करता हूँ, पर जब भी कभी मौका मिलता है रेलगाड़ी से जाने का तो खिड़की में बैठकर बाहर देखना मुझे बहुत रुचिकर लगता है। किस प्रदेश में किस चीज़ की फसल लहलहा रही है, कौन-सी बड़ी नदी रास्ते में पड़ती है या किस शहर की कौन-सी प्रमुख इमारत खिड़की में से देखी जा सकती है, यह जानने का शौक रहता है।

मगर अँधेरे में बाहर क्या दिखाई देता। फलतः चादर फैलाकर लेट गया और पत्रिका के पन्ने उलटने-पलटने लगा।

आँख खुली तो गाड़ी मथुरा पहुँचने वाली थी। इतनी देर तक तो मैं कभी सोया नहीं रहता। अब तो आठ बज रहे हैं। नौ बजे तक तो मैं तैयार होकर दफ़्तर जा पहुँचता हूँ। सवेरे छः बजे से पहले जगना मेरी आदत बना हुआ है लेकिन कल रात तो ऐसा घोड़े बेचकर सोया कि आठ बजे तक आँख ही नहीं खुली। जल्दी से चाय वाले को आवाज़ देकर चाय का एक कुल्हड़ लिया और चाय की हर चुस्की के साथ सिगरेट का एक लम्बा कश मिलाकर मैंने अपने को बाथरूम के लिए तैयार कर लिया। बाथरूम से निपटते-निपटते, गाड़ी दिल्ली पहुँचने वाली है।

"आप बड़ी देर तक सोये भाई साहिब?" बिल्कुल सामने बैठे एक अधेड़ उम्र के शरीफ़-से दिख रहे आदमी ने पूछा। फिर वही बेकार-सा सवाल? मन में आया, कह दूँ कि आपको मतलब? लेकिन शिष्टतावश कह नहीं पाया।

"जी, आँख ही नहीं खुली।"

"भई, सफ़र में या तो नींद आती ही नहीं, या फिर आती है तो ऐसी गहरी कि अपना स्टेशन तक पीछे छूट जाता है।" कहकर शरीफ़-सा दिखने वाला आदमी खुद ही हँस दिया। मैं भी औपचारिकतावश मुस्करा दिया।

"आपका स्टेशन तो पीछे नहीं छूटा ना?" मगर वह तो बात को आगे ही बढ़ाए जा रहा था।

"जी नहीं, मेरा स्टेशन अभी बहुत दूर है।"

"कहाँ जाएँगे आप?"

"अमृतसर।"

"अरे वाह! तब तो हमारा आपका धुर तक का साथ है।"

"जी?"

"भाई अमृतसर से आगे तो यह गाड़ी कहीं जाती नहीं और हम और आप, दोनों को अमृतसर जाना है।"

"ओह!"

"आप अमृतसर के ही रहने वाले हैं?"

"जी नहीं, मैं बड़ौदा का रहने वाला हूँ।"

"किसी बिज़नेस के काम से जा रहे हैं?"

"नहीं, पर्सनल काम है।"

"ओह! . . . . पहले आए हैं कभी इधर आप?"

"जी नहीं, पहली बार जा रहा हूँ।"

"कोई रिश्तेदारी है वहाँ?"

सवालों का सिलसिला सुरसा-सा फैलता ही जा रहा है लेकिन मैं कर भी क्या सकता हूँ? कैसे तोड़ दूँ झटकाकर प्रश्नोत्तर की इस रस्सी को जो हमें बाँधे जा रही है?

"जी हाँ, एक मित्र की बेटी है मेडिकल कॉलेज हॉस्टल में।"

"आई सी! . . . . अमृतसर में बहुत कुछ देखने लायक है।"

"जी, मुझे मालूम है और मैं देखूँगा भी।"

गाड़ी नयी दिल्ली रेलवे-स्टेशन से चलने ही वाली है। सामने वाले ने एक पूड़ी-भाजी वाले को आवाज़ देकर बुलाया है, और पूड़ी-भाजी ले ली है। गाड़ी सीटी दे रही है। उसने सौ का नोट निकालकर पूड़ी वाले से कहा है, "लाओ, पचानवे रुपये दो।"

उसके पास इतने पैसे नहीं हैं। गाड़ी छूटने को हो रही है और पूड़ी वाला उतावला हो रहा है।

"छुट्टा दीजिए साहेब वर्ना पूड़ी लौटा दीजिए।"

सामने वाला बेझिझक मुझसे पूछता है। "आपके पास पाँच का नोट होगा?"

"जी है।"

मैं जेब से निकालकर पाँच का नोट उसकी ओर बढ़ा देता हूँ और वह उसी नोट को रींगती हुई गाड़ी की खिड़की में से पूड़ी वाले को थमा देता है। गाड़ी स्पीड पकड़ने लगती है।

"नाश्ता कीजिए ना?" सामने वाला कह रहा है।

"सॉरी भाई साहिब, मैं सुबह के नाश्ते में फ्राइड नहीं खाता हूँ।"

मैं अपने थैले में से बिस्कुट का पैकेट निकालकर नाश्ता करने लगता हूँ। सामने वाला पूड़ी-भाजी खा रहा है।

मैं खिड़की में से बाहर झाँकने की अपनी आदत से मजबूर खिड़की से सटकर बैठ गया हूँ। सामने वाला शायद समझ गया है कि मैं बतियाने से ऊब गया हूँ। वह कोने वाली सीट पर बैठे एक सरदार जी के साथ ताश खेलने लग गया है।

अम्बाला रेलवे-स्टेशन पर गाड़ी रुकी है। सरदार जी ने ताश के पत्ते समेटकर गड्डी जेब में रख ली है। उनको यहाँ उतरना है। सामने वाला चाय वाले को आवाज़ देता है।

"सौ का छुट्टा होगा?"

"और क्या लेंगे चाय के साथ?"

"एक पैकेट बिस्कुट दे दो और चाय।"

"लाइए।"

सौ का नोट लेकर चाय वाला तिरयानवे रुपये उसके हाथ में थमा देता है।

गाड़ी चल दी है। उसने चाय का दूसरा कुल्हड़ मेरी ओर बढ़ा दिया है।

लेकिन मैं इस समय उससे चाय के कप की नहीं, अपने पाँच रुपये लौटाने की आशा कर रहा हूँ। रुपये उसने मज़े से जेब में रख लिए हैं और चाय मेरी ओर बढ़ा दी है। बिस्कुट का पैकेट खोलकर उसने पैकेट भी मेरे सामने कर दिया है। औपचारिकतावश 'ना' के बावजूद मैंने एक बिस्कुट ले लिया है और मैं चाय पी रहा हूँ।

चाय पीकर कुल्हड़ खिड़की में से बाहर फेंक दिये हैं हम दोनों ने।

दूर-दूर तक फैले हरे-भरे खेतों की ओर संकेत करते हुए सामने वाला कह रहा है। "यह देखिए? सोना उगलती धरती है हमारे पंजाब की। यह हिस्सा जहाँ से हम इस समय गुज़र रहे हैं, आजकल हरियाणा कहलाता है। पहले यह पंजाब ही होता था। अम्बाला की सीमा से वर्तमान पंजाब प्रान्त शुरु हो जाएगा।"

मुझे उसका पंजाब के विषय में जानकारी देना अच्छा लग रहा है, लेकिन वह मेरा पाँच का नोट क्यों नहीं लौटा रहा है? अब तो उसके पास छुट्टे का प्रॉब्लम नहीं है।

"देखिए, अब सरहिन्द आने वाला है। यही वह स्थान है जहाँ हुमायूँ ने सिकन्दर सूरी को मारकर भारत में मुग़ल-राज्य की नींव रखी थी। यहाँ एक प्राचीन बाग है—आम ख़ास बाग। इसे जहाँगीर ने बनवाया था। यहाँ करीब ही फतहगढ़ साहिब में गुरु गोविन्द सिंह के दो साहिबज़ादों को ज़िन्दा दीवार में चिना गया था। वहाँ अब शानदार गुरुद्वारा है। और यहीं जैनों का प्राचीन तीर्थ 'जयन्ती देवी' भी है।"

मुझे यह सब जानकारी बहुत अच्छी लगी होती, शायद मैं इसके लिए उस व्यक्ति के प्रति आभारी भी होता लेकिन उसने मेरा पाँच का नोट अभी तक वापिस नहीं किया है। अजनबी आदमी के साथ शराफ़त दिखाकर मैंने ख़ामख़्वाह पाँच रुपये की चपेट खा ली है। क्या यह आदमी वास्तव में ही मेरे पैसे नहीं लौटाना चाहता या इसे भूल ही गया है कि इसने दिल्ली में मुझसे पाँच रुपये उधार लिये थे। भूलने का तो क्या मतलब? कौन वर्षों पुरानी बात है ? अभी कुछ घण्टे पहले तो लिए थे पैसे इसने। तब इसके पास छुट्टा नहीं था, मगर अम्बाला में इसने अपना सौ का नोट भुना लिया था। तिरयानवे रुपये जेब में ठोंसने से पहले इसे चाहिए था, मेरे पाँच रुपये मेरे हवाले करता।

"यह लुधियाना है। यहाँ का घण्टाघर बहुत मशहूर है। इस स्टेशन के बाहर जो पोस्ट-ऑफिस है, वह कभी अफ़ग़ानिस्तान के बादशाह का निवास स्थान होता था। लोधियों ने बसाया था यह शहर, इसीलिए इसे लुधियाना कहते हैं। सतलुज के किनारे पर बसा हुआ है यह शहर। अभी थोड़ी देर में हम सतलुज पर से गुज़रेंगे।"

वह सब तो ठीक है लेकिन . . . . मेरे पैसे कब वापिस करेगा यह? इस तरह बातें करते-करते तो हम अमृतसर पहुँच जाएँगे। वहाँ यह रेल से उतरेगा और अपने घर को हो लेगा। सफ़र का साथ तो सफ़र तक ही होता है। मंज़िल पर पहुँचकर सफ़र भी समाप्त हो जाता है और सफ़र का साथ भी। तब क्या मुझे माँग लेने चाहिएँ अपने पैसे? इसमें भी क्या शर्म है? अपने पैसे ही तो माँगने हैं, कोई भीख थोड़े लेनी है ? लेकिन माँग नहीं पा रहा हूँ।

जालंधर स्टेशन पर मैं स्वयं चाय वाले को आवाज़ देता हूँ, यह सोचकर कि चाय के लिए औपचारिकतावश यह अपनी जेब से पैसे निकालेगा तो इसे मेरे पैसों की याद भी हो आएगी। लेकिन उसने

औपचारिकता दिखाई ही नहीं है। चाय वाले से दो गिलास लेकर मैंने ही उसे दो रुपये दे दिये हैं। हम लोग जल्दी-जल्दी चाय पी रहे हैं क्योंकि गाड़ी छूटने से पहले चाय पीकर खाली गिलास लौटाने हैं। अपने पाँच निकालने के चक्कर में मैं एक रुपया और नष्ट कर बैठा हूँ।

इसे खुद भी तो सोचना चाहिए। कौन-सी रिश्तेदारी है इसकी मुझसे। पैसे लेने में तो ज़रा शर्म नहीं की, अब देने में इसकी जान क्यों निकल रही है? शराफ़त का ज़माना ही नहीं रहा साहिब।

गाड़ी चल दी है। सामने वाला अब पंजाब के विषय में कुछ नहीं बता रहा है। शायद इसने भाँप लिया है कि मैं इसकी बातें उत्साह के साथ नहीं सुन रहा हूँ। शायद इसने समझ लिया है कि इतिहास में मेरी क़तई रुचि नहीं है। भाड़ में जाए यह आदमी मेरे बारे में जो भी धारणा बनाना चाहे, बना ले।

जालंधर शहर के बराबर से निकल रही रेलगाड़ी में से दूर-दूर तक फैला हुआ शहर दिखाई दे रहा है। एक ऊँची इमारत की तरफ़ इशारा करके मैं उससे पूछता हूँ, "यह कौन-सी इमारत है?"

"शायद कोई कालेज है।"

क्या टका-सा जवाब दे रहा है भलामानुस। अब तक तो हर शहर के पुरखों का इतिहास बताता रहा है अपने से ही, अब मैंने पूछ लिया है तो जैसे साँप सूँघ गया है बेईमान को।

काफी देर कापी में कुछ लिखता रहता है वह। शायद सफ़र के ख़र्चे का हिसाब-किताब लिख रहा है। तब तो इसे यह भी याद आ जाएगा कि दिल्ली में इसने मुझसे पाँच रुपये उधार लिए थे।

कापी बन्द करके बैग में रख ली है सामने वाले ने। अपना सामान भी समेट लिया है। अब शायद अमृतसर आने वाला है।

अचानक उसका हाथ उसकी जेब की ओर बढ़ा है। उसने जेब में रखे सारे नोट बाहर निकाल लिए हैं और उनमें से खींचकर पाँच का एक नोट हाथ में ले लिया है।

"सॉरी, भाई! मैं तो भूल ही गया, पाँच रुपये आपसे लिए थे दिल्ली में, वैरी सॉरी।"

"अरे हटाइए। रखिये भी।"

मेरे भीतर की सारी शिष्टता एक औपचारिक वाक्य में ढलकर निकल आई है।

"ना भाई ना, यह तो उधार था।"

पाँच का नोट लेकर मैंने जेब में रख लिया है। ख़ामख़्वाह ग़लत सोचता रहा मैं एक शरीफ़ आदमी के बारे में। निकल गई होगी बात दिमाग़ से। मालदार आदमी मालूम होता है। मेरे पाँच रुपये मारकर क्या सेठ हो जाना था उसे? मुझे अपनी सारी सोच में एक कमीनापन-सा दिखाई देने लगा लेकिन पैसे क्या पेड़ पर लगते हैं? गाढ़े की कमाई है। एक अजनबी पर लुटाने को तो नहीं क़माता हूँ मैं।

अब सामने वाला चुप लगा गया है। आँखें बन्द करके जैसे ऊँघने-सा लगा है वह। मुझे बहुत बुरा लग रहा है उसका चुप हो रहना। गाड़ी में से दिखाई दे रही इमारतों के विषय में जानने की लालसा उत्कण्ठा में बदल रही है, लेकिन वह है कि अपने में ही खोया पड़ा है।

मुझे बार-बार उस पर क्रोध आ रहा है कि यह बोलता क्यों नहीं है। बताता क्यों नहीं है कि गाड़ी इस समय कहाँ से गुज़र रही है। इस क्षेत्र का इतिहास क्या है और . . . अमृतसर में देखने लायक जो कुछ है, उसका ऐतिहासिक ब्यौरा क्या है। काश! मैंने इससे पाँच का नोट वापिस लेने की इच्छा ही न की होती। काश! दिल्ली के पूड़ी-भाजी वाले ने ही इससे सौ रुपया लेकर पचानवे रुपये इसे लौटा दिये होते। □

[पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़-160014.]

तबादला

□ बद्रीसिंह भाटिया

राखी ने सलाइयाँ ऊन के गोले में डाल कर, गोला पर्स के हवाले किया। कुर्सी छोड़ खड़ी हो गई। मन ही मन कहा, पाँच बज गये, चलना चाहिए।'' अपनी साथिन अनुपमा से कहा, ''अनुपमा चलो ! '' अनुपमा अभी भी नोट शीट पर कुछ लिख रही है। राखी को लगा अनुपमा ने उसकी बात नहीं सुनी। उसके मेज के पास आकर फिर कहा, ''अनुपमा, क्या ख्याल है, आज दफ्तर में ही रहना है क्या, '' अनुपमा चौंकी, ' अं हां क्या कहा..... पाँच बज गये? अरे! वह भी कागज समेटने लगी। लिखे नोट-शीट उसने फाइल पर लगाने की बजाए दराज के हवाले किये। फिर बिखरी फाइलों को ठीक किया पेन-पेंसिल दराज में डाले। दराज में ताला लगाया और उठ गई। पाँच बजकर पाँच मिनट हो गये हैं। सैक्शन आफिसर, अधीक्षक के साथ गप्प लगा रहे हैं। चपरासी भी सोच रहा है कि ये उठेंगें तो वह भी चल दे अनुपमा राखी के साथ कमरे से बाहर निकल गई। उसकी चाल में पहले जैसी मस्ती नहीं रही। कुछ दिनों से चेहरे पर उदासी है। राखी यह मान कर चुप रही कि आजकल खट-पट चल रही होगी। सीढ़ियां उतरते उसने अनुपमा के कन्धे पर हाथ रखा तो वह 'सी'-कर अगली सीढ़ी उतर गई। राखी ने पूछा, ''क्या हुआ!''

''कुछ नहीं यूं जरा दर्द कर रहा है कन्धा।''

राखी से रहा न गया, '' अनु क्या बात है, आज कल मियां से ठीक नहीं चल रही?''

नहीं ये बात नहीं।

''फिर क्या बात है? तुम उदास-सी हो.. दफ्तर में भी तुम चुप-सी रहने लगी हो। कल तुमने खाना भी नहीं खया। आज एक चपाती खा कर उठ गई''.. वे गेट तक आ गई हैं। बाहर आकर हवा का ताजा झोंका उनसे टकराया, अनुपमा ने गर्म माथे पर हल्की सी ठण्डक सहसूस की। लकिन उसने राखी के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। साड़ी का फाल ठीक किया और आगे बढ़ गई।

''राखी किधर जा रही हो? बाजार या घर? ''यार! आज तो बाजार जाना है, सब्जी-वब्जी ले लेते हैं।''
''चलो मैं भी चलती हूँ।''

वे दोनों बाजार पहुँच गई। रास्ते में दफ्तर की फाइलों, एस. ओ. के व्यवहार और सचिव, उप सचिव की टिप्पणियों की ही बातें होती रहीं। यदा-कदा राखी कोई पारिवारिक बात कह देती तो अनुपमा उसे किसी तरह बदल देती। चाहे साड़ी के नये फैशन या किसी राह चलती युवती के चलने के ढंग को लेकर।

राखी के मन में एक खटका तो पैदा हो ही गया था- यह चुल-बुली, तेज अनु एकाएक बदल क्यों गई। तो...। कई बार हम अपने साथियों की ओर ध्यान नहीं देते और उनमें आ रहे परिवर्तनों को सहज लेते रहते

हैं। बात बढ़ जाने पर ही... इसके साथ अवश्य ऐसा कुछ हुआ है...

मन में उठे झंझावात को उसने बाजार से आते साफ करना उचित समझा, "अनु, तुमने बजार में भी खास कुछ नहीं लिया, फिर तुम्हारी चुप्पी ये बदलाव-सा अचानक?

"कुछ नहीं, बस यूँ ही।"

"नहीं। लगता है आजकल मियां के साथ खटपट चल रही है।"

"अरे! ये तो चलता रहता है- इसमें नया क्या?"

"पर अब तो उम्र इतनी निकल गयी ये रूठना-मनाना आदि तो काफी पहले ख्त्म हो जाता है। " राखी ने कह तो दिया परन्तु अपने कहे पर पछताने भी लगी। वह अपने पति के व्यवहार को भी जानती है क्या मिला उसे? वब कतरा-कतरा विखरता ही गया

"अनुपमा चुप चलती रही।

"हुआ क्या... बताने में क्या हर्ज है, बता कर तो जी हल्का ही होगा, यूँ घुट-घुट कर तो..... फिर तूँ मिग्रेन की मरीज भी है। बोल न!"

राखी ने अनुपमा को झिंझोड़ कर पूछा

कितना रोकती अनु अपने को। वह सिसक उठी "राखी तुम नही जानती, मैं उनकी यह यातना न जाने कितने सालों से सहन कर रही हूँ। अब तो हद हो गई, मेरे वश में नहीं रहा कुछ...."

"यातना । क्या कह रही हो... क्या हुआ, वे तो ऐसे-वैसे नहीं लगते । "

"सब यही जानते हैं। बहुत व्यवहारिक हैं। परन्तु घर पर.. बस पूछो न ! "अनुपमा ने जैसे गहरी पीड़ा के बीच से ही कहा।

"क्या? "हैरान हो गई राखी। अनुपमा न जाने कहाँ खो गई। बोली नहीं, बस चलती रही। अँधेरा गहराता ज़ा रहा है। राखी अनुपमा से उसका सारा दुःख एक बार ही पूछना चहती है। और अनुपमा नहीं चह रही कि अपनी असीम पीड़ा वाले इस नासूर को तनिक छुए भी। इतना कि सारा मवाद बाहर निकल कर उसे परेशान कर दे। संभवतः राखी डर रही है कि वह जान जाये कि... पर राखी क्या ऐसी वैसी... "मन में प्रश्न उठता है।... सारी साथिनों में अच्छी है। दूसरे के दुःख-दर्द को अपना समझने वाली। फिर उचित सुझाव देकर समस्याओं को निबटाने में मदद करने वाली न भी है। दफ्तर में जब से वे एक साथ हुई हैं।, उसका व्यवहार मन जीतने वाला है। कुछ भी हो पर क्या उसे वे सारी स्थितियाँ बता देनी चाहिए?

घर करीब आ गया है। वे चौक पर से विदा हो गई । विदा होते राखी ने कहा,-"ये पुरूष बड़े काइयां होते हैं। इन्हें टैकल करना पड़ता है- वरना इनका क्या, कल कहीं दूसरी जगह मुँह मारना शुरू कर दें तो.. बदनामी तो फिर भी हमारी होगी... परिवार-बच्चे ये नहीं जानते- ये तो हम औरतों का जिम्मा है। नौकरी भी करो और इनको खुश भी रखो।"

अनुपमा दूसरे दिन भी उदास है। आँखों के नीचे स्याहपन साफ झलक रहा है। वह गोरा चेहरा भी जो चालीस तक आते भी लाल रहा, जर्द पड़ गया है। अब उम्र के वर्ष सहज देखे जा सकते हैं।

राखी अपना काम करते भी उसे देखती रहती है। उसने देखा आज अनुपमा ने कोई काम नहीं किया। कल के लिखे अपने नोटस दराज से निकाले और पढ़ने लगी। फिर चुप बैठी रही। एक दो बार नोटस दराज में बन्द कर शौच, चाय पीने के बहाने बाहर जाकर लौट आई। फ्रेश डाक भी उसने सरसारी ही देखी। उसमें

से केवल 'अरजेन्ट' निकाल कर अलग की और सामने रैक पर सम्बन्धित फाइल ढूंढने लगी। फाइल न मिलने पर लौट आई- कुछ फुसफुसाई, 'कल देखेगी। इतना अरजेन्ट तो है नहीं । ''इसी तरह शाम का वक्त हो गया। राखी ने उसे उसी तरह पुकारा, ''अनु पाँच बज रहे हैं, चलो तैयार हो!

नीचे आकर उनहोने घर के लिए सीधे बस ली। राखी अनुमा को अपने घर ले गई।

चाय आदि के बाद राखी ने अनुपमा को फिर छेड़ दिया। उससे कुरेद-कुरेद कर पूछा कि वे कौन से हालात हैं, जिन्होने एकाएक अच्छी चली आ रही गाड़ी को गड़बड़ा दिया है।

अनुपमा हिचकिचाती रही। परन्तु अपनी शुभचिंतक के पास बताने का भी मन बनाती रही। इतना गुव्वार भला भीतर कब तक समाया रहता। आखिर बोली, "यूं तो क्या छिपाना, पर कई वर्षों से उनका व्यवहार नार्मल नहीं है। वे कभी-कभार ऐसे हो जाते हैं मानों कभी मिले ही न हो। उनकी व्यंग्य भरी बातों से मैं भीतर ही भीतर टूटती जाती हूँ। इस पर जब भी प्रतिवाद करती हूँ तो फिर परेड़ हो जाती है। अब मेरा मन इस व्यक्ति को स्वीकार नहीं कर रहा। मगर अनिच्छा से करना पड़ रहा है। कई बार लगता है, यह वह आदमी नहीं है, जिसे मैंने कभी दिल की अतल गहराइयों से चाहा था, और अपना सर्वस्व सौंप दिया था। यह वह आदमी भी नहीं जो मेरे ज़रा से इशारे पर क्या से क्या कर डालता था। अब तो लगता है यह एक जाना पहचाना आदमी है जो रोज घर समय असमय आ जाता है और तानाशाही करता है। मेरे साथ निरन्तर मानसिक और शारीरिक बलात्कार हो रहा है। और मैं हूँ कि चाह कर भी कहीं कोई शिकायत नहीं कर पा रही। तुम नहीं जानती राखी मैं. . . . ।" यह कहते अनु बीच में अटक गयी।

उसकी बात पर राखी ने प्रश्न किया, "कहीं तुम लोगों में पैसे को लेकर तो नहीं है कुछ?"

"पैसे की बात पता नहीं। अब कुछ याद नहीं। पर शुरु-शुरु में ऐसा ज़रुर था। फिर ये कुछ अतिरिक्त काम करने लगे, पर इन्होंने कभी ऐसी शिकायत नहीं की। कभी-कभार अपने पास खूब पैसे की बात अवश्य करते। रेनी-डे की बात तो इनकी जुबान पर रहती। पर इससे मुझे परेशान करने की क्या आवश्यकता थी? इन्होंने तो बस एक ही कसम खा ली थी, घुमाफिरा कर बातों का तोड़ मुझ पर ले आना और फिर लगना गिनने मेरे मायके वालों का हिसाब और उनकी गिफ्टों की बातें? हज़ार बार कहा कि गिफ्ट का स्तर हम नहीं आंकते, पर कौन है जो माने। ऐसे में घर में तनाव रहता और अबोले की स्थिति थी। . . . . सबसे बुरी बात है घर पर देर से आना। फिर शराब में धुत्त। पहले तो एकान्त बांटने को बच्चे थे। अब बेटा इंजीनियरिंग कालेज में और बेटी होम साइंस कालेज में है। घर पर मैं अकेली . . . कभी-कभी ये इतने नर्म हो जाते हैं कि मोम भी मात हो जाता है। फिर अपने को कोसते हैं, माफी मांगते हैं मगर कई बार फिर इनका अहम सिर चढ़ जाता है। जब भी कहती हूँ घर जल्दी आया करो तो एक ही उत्तर—क्या रखा है अब यहाँ? तुम तो पास बैठती नहीं, भई मेरे से नहीं होता अब ये भांडा-बर्तन?"

"तो क्या वे तुम्हारे साथ . . . .।" राखी बोली।

"हाँ। पहले पूरा हाथ बंटाते थे, कहते थे—कामकाजी महिलाओं की जिम्मेवारियों को जानता हूँ। पर अब न जाने क्या हो गया है?"

"कहीं कोई दूसरा चक्कर. . . . .।"

"नहीं जानती, कभी सोचा ही नहीं।"

"फिर क्या बात? तू उन्हें तो . . . यानि उनका हिस्सा . . . . मेरी बात समझ रही है न तू।"

"मुझे अब इतना अच्छा नहीं लगता, चालीस साल के बाद भी. . . ।"

इतनी बात के बाद राखी ने बात बदल दी। उसकी बड़ी बेटी उनके पास आ गई है। संभवतः उसने

बाहर कुछ सुना हो। वह अनुपमा की बातों से स्वयं भी असमंजस में है। कई बार मनुष्यों की स्थितियाँ एक-सी क्यों हो जाती हैं। यदि उन्हें मामूली-सा परिवर्तन करके देखा जाए। वह स्वयं भी तो जीवन को सुख से भोगना चाहती है। पति की उपस्थिति और उनका सान्निध्य चाहती है। परन्तु इधर वे दफ्तर से घर आ कर फाइलों में व्यस्त या कोई पुस्तक पकड़ कर। . . . वे बाहर कमरे में और वह अपने से बाते करतीं–तपते जिस्म के साथ भीतर अपना आक्रोश तकिए पर उतारती।

राखी अनुपमा को स्वयं बेटी के साथ उसके घर तक छोड़ने आई। बैठक में कदम रखते ही दृष्टि अनुपमा के पति पर पड़ी। वे शराब की बोतल खोले हैं। अकेला। पैग मेज पर। मुँह में सिगरेट। पूरी बैठक में धुआँ ही धुआँ।

नमस्ते के आदान-प्रदान के साथ, उसने झिझकते हुए माफी मांगी और बोतल-गिलास मेज के नीचे कर दिये।

राखी ने दो-तीन मिनट औपचारिकता के नाते बैठ कर विदा ली और फिर आने को कह कर चली गई।

दो-तीन दिन तक तो कुछ नहीं हुआ। मगर एक दिन फिर अनुपमा उसी प्रकार चेहरे पर सूजन लिए कार्यालय आ गई। राखी ने पूछा, "आज क्या फिर . . . । "हां! आज फिर भूत सवार था श्रीमान पर, अपना हक ले ही लिया, मैं मरती रही, तड़पती रही . . . . ।"

उस दिन राखी अनुपमा के घर आ गई, सीधे। अनुपमा का पति, किचन में कुछ बना रहा था। उसके आते ही उल्लासित बैठक में आया और फिर यह कह कर लौट गया कि वह चाय ले कर आ रहा है।

चाय के साथ राखी ने बात छेड़ दी, "मि. शेखर आपको कोई संबोधन नहीं दिया कभी, जैसे देवर, जीजा . . . पर अनु को मैं हमेशा छोटी बहन मानती रही हूँ। आज कल आप लोगों में ये क्या चल रहा है?"

"क्या मतलब?" शेखर चौंका।

"खटपट . . . यूँ मुझे पति-पत्नी के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए।"

"क्यों अनु? कैसी खटपट? मैं समझा नहीं?"

उसकी बातों से राखी असमंजस में पड़ गई। इनमें कौन सच कह रहा होगा। फिर भी उसने वार्ता सूत्र को पकड़ा और कहा, "तुम एक-दूसरे को समझने में भूल कर रहे हो? पति-पत्नी तो गाड़ी. . . । कोई असंतुलन आ जाये तो . . . ।"

"तो क्या हुआ? अनु मैंने क्या किया? कोई ग़लती हो गई तो भई कान पकड़ता हूँ।"

"तुम इसे तंग करते हो? समय-कुसमय . . .।" हंस दी राखी।

"अरे! राखी, ये तो निजी मामला है, आप क्यों इसमें, पर यदि अनु आपको अपनी वकालत के लिए लाई है तो पूछो इससे, कमी कहाँ पर है?"

"वास्तव में तंग मैं नहीं, ये कर रही है। कर नहीं रही बल्कि करती आ रही है।" शेखर बोला और चुप हो गया। क्षण भर की चुप्पी के बाद वह फिर बोला, "करीब पन्द्रह वर्षों से इसके द्वारा दी जा रही मानसिक यातना से त्रस्त हूँ। क्या-क्या सुनायें? यह सम्बन्धों को लेकर ही नहीं बल्कि समग्र रूप से व्यावहारिक जीवन का मसला है, जो आज केवल एक बात पर केन्द्रित हो गया है कि मैं इससे कुछ निजी चीज़ें, समय-कुसमय इसकी अनिच्छा पर भी प्राप्त कर लेता हूँ। अब तो मैं भी भूल गया हूँ कि आखिर हममें ये विरोध की सी स्थितियाँ पहले-पहले कब और कैसे आरम्भ हुईं। अब तो यह जीवन का एक हिस्सा लगता है। तुम्हीं बताओ ये प्रेम होता है क्या है? क्या यह रूप-रंग का आकर्षण नहीं होता जो बाद में दैहिक सुख में परिवर्तित हो जाता है। हम इस सुख के लिए न जाने क्या-क्या नहीं करते? इसके बहाने एक-दूसरे के भीतर तक उतरना

चाहते हैं, पर्त-दर-पर्त। फिर बच्चे होने के बाद एक साथ सारी जिम्मेवारियों को नहीं निभाते। फिर यह क्यों होने लगता है कि एक के दु:ख तो सर्वोपरि और दूसरा जाये भाड़ में। एक खटता रहे, टूटता रहे और दूसरा किसी न किसी बहाने सेवा करवाता रहे। पूछो इससे कि क्या नहीं किया मैंने?"

अनु जो सुन रही थी, बोल पड़ी, "उस सेवा का क्या जिसके पीछे कुछ लेने की भावना हो, तुम सेवा क्या कुछ लेने की ज़्यादा फिक्र करते हो।"

"हो सकता है, पर जो तुम वास्तव में पीड़ित होती, ये तो अब तुम्हें न जाने क्या कुछ हो गया है? अब तुम कहते हो कि मैं दूसरी शादी कर लूँ। यानी चालीस साल बाद, खूब जंचेगा? मेरी प्रतिष्ठा का खूब मज़ाक उड़ा रही हो तुम? कोई काम करने में उत्साह होता है, तत्परता रहती है। जब हम ठण्डे पड़ जाते हैं न, तब सारी तकलीफें होने लगती हैं और आदमी टुकड़ा-टुकड़ा टूटता जाता है। यहीं से आरम्भ होता है बिखराव—तब हम स्वयं को भारी भीड़ में भी अकेला पाते हैं। सो इस बात को यहीं समाप्त कर दो, क्योंकि इसका हल नहीं है। मैंने इसके कहे अनुसार अपने को बदलना आरम्भ कर दिया है, सो हो जायेगा धीरे-धीरे अब इनकी सेवा किया करेंगे हम।" शेखर की आवाज़ में व्यंग्य है।

"सेवा! सेवा!! सेवा!!! मैं तो तंग आ गई यह सुन कर। क्या करते हैं यह बताना ही उचित रहेगा—शाम को आये या सुबह जल्दी उठ गये। किचन में सारे बर्तन खराब, कोई पतीला, चमच, कड़छी और तो और मसाले के डिब्बे भी सब नीचे। फिर लगेंगे जी साहब सोचने, क्या बनाया जाये? जो बनायेंगे उसे तो जबरदस्ती खाना पड़ता है। मान रख कर, झूठी तारीफ कर-करके। उसके बाद बारी आती है मेरी। उस सारी अव्यवस्था को ठीक करो। कपड़े धो, झाड़ू-पोचा करो, इनके कपड़े प्रेस करो। सुबह घड़ी की सुइयाँ दिल काटती जाती हैं। समय बढ़ता जाता है और इधर कामों की फेहरिश्त लम्बी होती जाती है। दौड़-भाग कर बस पकड़ो। दफ्तर पहुंचो। शाम को घण्टों इंतज़ार। पैर धोने का भी मूड बनाना पड़ता है? ऐसे में . . . .थक-हार कर कमर सीधा करने बिस्तर पर पहुँचो तो फिर इनके मजाक . . . .भौंड़े, अश्लील . . . .छिः . . . छिः . . . । घिन आती है।" अनुपमा अपनी भड़ास निकाल ही गई।

"पर, अनु पति-पत्नी के सम्बन्ध तो प्यार-प्रेम से ही पुख्ता होते हैं। "नहीं! नहीं, मुझे ज़रा भी पसन्द नहीं ये—मुझे तो उबकाई आती है . . . .ये लिजलिजा सा व्यवहार थू . .. थू . . . ।" बुरा-सा मुँह बनाया अनुपमा ने।

"तुम अपनी स्थिति स्पष्ट क्यों नहीं करती, शेखर पर?" राखी ने कहा।

"एक बार! नहीं, हजार बार। पर असर पड़े जो . . थिक स्किण्ड हैं यह मर्द। सो मरने दो। मुझे मर जाना एक दिन छुटकारा पा लेना . . .पक्का।" हताश अनुपमा ने निर्णय सुना दिया और उठ गई।

अब राखी क्या कहती। इधर-उधर की बातें कह कर उठ गई। अनुपमा वास्तव में ठण्डी है या उसका कोई और चक्कर? कई बार आदमी घर पर भोजन इसलिए भी नहीं करता कि वह बाहर खा कर आता है। पर दफ्तर के व्यवहार से तो नहीं लगता ऐसा? यानी कि आदमी में एक उम्र के बाद ऐसा बदलाव आ जाता है? पर उसे स्वयं तो ऐसा कुछ नहीं लगता पति भी कभी-कभार . . . फिर क्या हो सकता है?—राखी बस सोचती रही।

अनुपमा के बच्चे आये हैं। दोनों अपने पापा के साथ घूमने निकले हैं। लड़के को पेंट लेनी है और बिटिया को सूट। वे शॉपिंग कर माल पर घूम रहे हैं। अभी योजना बना रहे थे कि जालजीज़ में बड़े या डोसे खाये जायें और शाम को मम्मी की मेहनत की छुट्टी की जाये। शेखर ने सुझाव दिया कि आज किसी रेस्टोरेंट में बढ़िया

खाना खाया जाये। अनु घर में प्याज-टमाटर की अपनी फेवरेट सब्जी खा लेगी। इस पर लड़की ने ठहाका लगाया। "पापा आप चूकते नहीं पीठ पीछे भी।"

"क्यों ग़लत कहा क्या? कैसी औरत है, न घूमने का शौक, न खाने-पीने का। घर और दफ्तर की दौड़ में तो आदमी कुन्द हो जाता है। ठीक से न खा कर दस बीमारियाँ पैदा करता है। यूँ ना! ये जो गैस की बीमारी है न, जाने कब से है. . .अपच से कई रोग और हो जाते हैं . . . फिर।"

"फिर आपके हिस्से आता है उनकी पिंडलियाँ दबाना या सिर . . . .सच पापा आप कितना सहन करते हैं।" बेटी ने कहा।

"पापा और जो आप, थ्री स्टार होटल का मैप बना रहे थे क्या बना?" बेटे ने कहा।

"आज की रिफ़रेशमेंट, शॉपिंग हो रही है।" शेखर ने हँस कर कहा। गेयटी के पास अचानक अनुपमा मिल गई। राखी साथ है। राखी ने ही पूछा, "क्या प्रोग्राम है?"

"हम अभी कॉफी पियेंगे, फिर डिनर की सोच रहे हैं, आप साथ देंगी न। ये अच्छा हुआ अनु भी मिल गई।"

"कॉफी तक तो दे सकती हूँ।" राखी ने आगे कहा, "कल शनिवार है, आप लोग घर क्यों नहीं आ जाते, वहीं डिनर कर लेना और फिर एक पिक्चर भी हो जायेगी।"

दूसरे दिन वे राखी के घर चले गये। राखी के पति अपने पठन-पाठन, पूजा-पाठ में ज़्यादा व्यस्त रहते हैं। घड़ी भर मिल कर उठ गये। राखी ने क्षमा याचना के तौर पर कहा—"ठीक ही है, यदि बैठे भी रहते तो बोलते कुछ नहीं, यूँ गूँगा बन कर बैठना अच्छा थोड़े ही लगता है।"

"क्यों बातचीत में इनकी रुचि नहीं?"

"अध्यात्म, वेद-पुराण, दफ्तर का काम। मैं तो उक्ता जाती हूँ।

बात-बात में फिर पारिवारिक बात निकल गई। राखी ने ही कहा, "शेखर जी, आपकी तो सैल्फ अरेंजड . . . मैरीज . . .

"दूसरे शब्दों में लव मैरीज, प्रेम विवाह।" शेखर ने हंसते हुए कहा?

"फिर ये सब तकरार . . .।"

"छोड़ो भी, बच्चे . . . . ।" अनुपमा ने रुष्ट होकर कहा।

"नहीं मम्मी, आप बात करो, हम अंकल से कुछ सुनेंगे। वे बेचारे बोर हो रहे होंगे। चलो भैया, अनु की बेटी ने कहा।

शेखर ने सिगरेट का कश लिया और बोला—"जीवन तो जुआ है, सभी नहीं जीतते इसमें—प्रेम विवाह पहले न जाने किन आकर्षणों को लेकर आता है? फिर दाम्पत्य में बंध कर हम भूल जाते हैं कि इसे बरकरार रखना होता है? हमारी प्राथमिकतायें और वरीयतायें बदलती जाती हैं। उम्र के साथ वे आकर्षण भी घटते रहते हैं जिन्हें लेकर प्रेम विवाह हुआ होता है। अब हमें ही लो, मेरा नेचर ऑफ डियूटी कुछ ऐसा है कि इसमें शराब चलती ही है। कितना ही साधू बनो, पर अपने को बनाये और बचाये रखने के लिए यह ज़रुरी है। अब अनु को ये पसन्द नहीं। घर पर तो अमूमन मैं लेता नहीं पर कई बार एकान्त को काटने के लिए लेना पड़ता है . . . . ।

"दाम्पत्य जीवन हमारे स्वभाव पर भी निर्भर करता है, मैं स्वयं जरा हँस कर रहना चाहता हूँ। इस उम्र में भी इससे मजाक करता हूँ, पर यह उसे स्वीकार न कर जलभुन जाती है . . . . फिर क्रोध तो मुझे भी

आता है? कितना दबाया जाये?" शेखर मुस्कराया।

वह आगे बोलता रहा। राखी उसकी बातों से हट कर अपने जीवन में झाँकने लगी। कितने वर्षों से इन्होंने ठीक से बात नहीं की। जब से वह मशहूर बाबा आया है बस ये उन्हीं के होकर लिबरेट होने की सोच रहे हैं? इधर हम हैं कि . . .

राखी के कानों में पड़ा, "क्या बात है, राखी कि दो आदमी एक समय में एक-दूसरे के इतने करीब होते हैं कि और फिर अचानक न जाने यह सब कब सूख मुरझा जाता है और दो चेहरे परस्पर विरोधी दिशा में हो जाते हैं। उनकी सांसों की रफ्तार एकाएक कमरे में अलग से पहचानी जाती है। . . . .पढ़-लिख कर सुना था लोग विद्वान होकर समाज को, उसके कार्य-व्यवहार को, बारीकी से समझने लगते हैं, परन्तु यह सिद्धान्त कम से कम हम लोगों पर लागू नहीं हुआ? . . . .

शेखर कुछ और कहता कि अनुपमा बोली, "दीदी, ये तो बोलते ही जायेंगे? कोई अन्त नहीं होता जब इन्हें बोलने के लिए छेड़ दो तो . . . .पर मैंने इन्हें कोई कमी नहीं होने दी—हाँ। कई बार ये पशु हो जाते हैं—तो विरोध तो करना पड़ता है।"

"मैं बहस नहीं करना चाहता, पर आदमी में कुछ संस्कार होते हैं, जिन्हें वह बदले हुए हालात में भी नहीं छोड़ पाता—अनु विरासत में कुछ लाई है जो इसके भीतर है। वह कई बार इस पर हावी हो जाता है . . . , "शेखर ने कुछ ऊँची आवाज़ में कहा। उसकी बात बीच में ही रह गई। अनु चीख कर बोल पड़ी, "शेखर तुम—मेरे विगत को . . .क्या समझते हो मेरे माँ-बाप तक तुम क्यों जाते हो . . . .तुम्हारे वे . . . मैं नाम नहीं लेना चाहती, क्या दिया उन्होंने, क्या कमा लिया तुमने . . . .।"

उसकी तीव्र आवाज़ सुनकर उनकी बेटी बैठक में आ गई—"मम्मी कितना कहा आपको, गुस्सा नहीं करते . . . मैंने कहा न तुम लोग मत बोला करो आपस में। बस खत्म करो यह अन्तहीन बहस। चलो अब! मैं भइया को बुलाती हूँ।" बेटी काफी उत्तेजित है। उसे मम्मी-पापा का दूसरे के घर में लड़ना अच्छा न लग रहा। उसकी बात से यह असर ज़रुर हुआ कि वे दोनों चुप हो गये। थोड़ी देर इधर-उधर की बातें कर चल दिये। विदा होते समय घर के सभी सदस्य बाहर तक छोड़ने आये—बाई-बाई के बाद, थोड़ा आगे शेखर रुका वह राखी को सम्बोधित कर बोला, "अब इस समस्या का इलाज शीघ्र ही हो जायेगा। आप परेशान न होना।"

वे चले गये। पर राखी, उनके साथ अपने घर का सामंजस्य स्थापित करती रही—फिर भीतर ही भीतर बुदबुदाई—"तुम तो कर लोगे शेखर, पर हम क्या करें?"

उस दिन की बहस के बाद अनुपमा के चेहरे पर कोई ऐसे भाव नहीं रहते जो यह बात बताएं कि उनमें कोई तनाव है। वक्त बदलता रहा—एक दिन अनुपमा ने उसे वे नोट शीट दिये जिन्हें काफी दिन पहले उसने लिखा था। हँसी थी वह—कि यदि उस दिन उसे वह न टोकती तो वह अपनी इह लीला समाप्त कर गई होती? कोई क्षण होता है, जो बचा लिया जाए तो बहुत कुछ बच जाता है।

राखी ने नोटशीट पढ़े। उनमें शुरु से लेकर आखिर तक शेखर द्वारा उसे दी गई यातनाओं का ज़िक्र है। जिनमें अधिकतर उनके शारीरिक सम्बन्धों की बातें बेशर्मी से अंकित हैं।

राखी ने पूछ लिया, "आज कल कैसे हैं तेरे मियां?"

"उन्होंने अपना तबादला करा लिया है। अब तो छः महीने में एक बार ही आया करेंगे।" जरा सी हँस दी अनुपमा। ☐

[2-हरबंस काटेज़,, संजौली, शिमाल-171006]

गिरावट

❑ पिङ् शिन्

अनुवाद : ग फू-फिङ्

पिङ् शिन् (असली नाम शिए वान ईन, स्त्री)। जन्म : 1900 ई.। 1919 में लेखन शुरु। अमरीका तथा जापान में अध्ययन। 1951 में स्वदेश लौटने पर चीनी लेखक संघ की सदस्य। चीन की इस ख्याति प्राप्त लेखिका की कविता, कहानी, निबंध तथा बाल-साहित्य आदि विधाओं में अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

मेरे घर में एक बूढ़ी नौकरानी थी। वह आनहूवी प्रान्त की थी। एक दिन, वह अपने लड़के की शादी में अपने घर जा रही थी। तब उसने मुझ से कहा, "अध्यापिका सूङ, इस बार शायद मैं आप के यहाँ फिर नहीं लौटूँगी। वैसे आप के यहाँ का काम बहुत आसान होता है और मुझे आराम भी मिलता है। कल मेरी एक भतीजी गाँव से आई है। बेचारी जब मिडिल स्कूल का कोर्स पास कर चुकी तो उस की माँ मर गई। उस के पिता ने दूसरी शादी कर ली। सौतेली माँ उस के साथ बहुत बुरा व्यवहार करती है और खेतीबाड़ी का काम उससे बहुत कराती है। यह जानकर मुझे बहुत दुःख हुआ। इसलिए कल एक पड़ौसी के द्वारा यहाँ बुला लाई। मैं चाहती हूँ कि मेरी जगह वह काम करे। वह सब कुछ कर सकती है, पढ़ी-लिखी भी है, मुझ से कहीं बेहत्तर है।" कहते-कहते नौकरानी ने अपने पीछे से एक लड़की को खींचकर सामने दिखाया। लड़की लगभग बीस साल की थी। कपड़े फटे-पुराने, बदन दुबला-पतला और चेहरा पीला-बेरंग। "इसका नाम फाङ स्वी-फुङ् है।" फिर बूढ़ी नौकरानी ने लड़की को ज़रा इशारा किया और कहा, "बेटी, जल्दी नमस्ते कहो, यही अध्यापिका सूङ हैं, तुम्हारी मालकिन।" लड़की ने अपना सिर बहुत नीचे झुकाकर प्रणाम किया। संकोचवश उसके चेहरे पर लालिमा छा गई।

उस समय मैं रिटायर नहीं हुई थी और मेरी बेटी श्याओं चन अभी भी स्नातक होकर एक स्कूल में पढ़ाती थी। घर में काम-काज बहुत थे। श्याओ फाङ घर में आकर हमारी मदद करे, यह हमारे लिए खुशी की बात थी।

श्याओ फ़ाङ दुबली-पतली तो थी, पर काम-काज में बहुत तेज थी। एक महीना भी नहीं हुआ था कि वह हमें बहुत पसंद आ गई। क्योंकि उसे लम्बे समय से परिवार का सुख नहीं मिला था, इसलिए उसे मेरे छोटे और ग़रीब से घर में परिवार के मैत्रीपूर्ण और स्नेहपूर्ण माहौल में आनन्द महसूस हुआ। श्याओ चन कभी कभी अपने फालतू कपड़े श्याओ फ़ाङ को देती थी और श्याओ फ़ाङ खुशी से उन्हें पहन लेती थी। दोनों का संबंध इतना अच्छा था, मानों दोनों बहनें थी। रात को श्याओं चन उसे अंग्रेज़ी भाषा और गणित पढ़ाती थी और प्रोत्साहन देती थी कि वह मिडिल वोकेशन ट्रेनिंग स्कूल की परीक्षा में बैठ जाए।

दो साल यों ही बीत गए। एक दिन, श्याओं फाङ ने अचानक संकोच में मुझ से कहा कि उस की एक पड़ोसिन ने आटे की एक दुकान में उस के लिए सेल्स गर्ल की जगह ढूँढ ली है, महीने की तनख़्वाह 190 टवान होती है और ऊपर से बोनस भी मिलता है। आँखों में आँसू भरे वह कह रही थी, "वैसे मैं आप लोगों से बिछुड़ना नहीं चाहती, मगर स्कूल में पढ़ने के लिए फ़ीस जमा करनी है, इसलिए . . . " तब मैं रिटायर हुई थी और घर का काम कर सकती थी, सो मैंने और श्याओं चन ने फ़ौरन कहा, "यह बात हम समझ सकती हैं और तुम्हारे लिए खुशी की बात है। अब तुम जाओ। जब फुरसत मिले, घर आ जाना!"

जैसे स्कूल की छात्राएं इतवार को अपने घर जाती हैं, श्याओं फाङ हर इतवार को मेरे घर आने लगी। वैसे वह मेरे घर में एक-दो साल रहने के बाद ही भरी-पूरी हो गई थी, मगर इस समय वह रंग-बिरंगे स्कार्ट में और भी सुन्दर दिखाई देने लगी थी। हंसी-मज़ाक में हम उस से कहा करती थीं कि उसे हम पहचान नहीं पा रही हैं।

हर बार जब श्याओं फाङ आती, फल वग़ैरह चीज़ें ज़रुर लाती। ख़ासकर वह कभी-कभी नानतोफू[1] लाती और कहती, "किताबों से मैंने पढ़ा है, कि बुढ़ापे में हड्डियों के जोड़ कमज़ोर हो जाते हैं। आप ऐसी चीज़ें ज्यादा खाइये, जिन में कैल्शियम निहित हो, तो फायदा मिलेगा। दूध और अंडे के अलावा सोयाबीन की बनी चीज़े सब से अच्छी हैं। बाज़ार में इसी तरह का बढ़िया पनीर आप को कहाँ मिलेगा।" हम उसे धन्यवाद कहतीं, तो वह श्याओं चन की ओर आँखें मटकाती और हँसते हुए कहती, "मुझे आप लोगों से ज़्यादा तनख़्वाह मिलती है, इन छोटी-मोटी चीज़ों से क्या होगा।" तब स्वीकार किए बिना और कोई उपाय न रहता।

एक दिन, वह फिर आई सफ़ेद रंग का एक छोटा-सा लम्बा चौकोना रेडियो मेरी मेज़ पर रखकर उसने कहा, "बस, यह रेडियो अठारह टवान में मिला है और मेरी तनख़्वाह का दस प्रतिशत भी खर्च नहीं हुआ। इस से रोज़ सुबह उठने के बाद 'समाचार और अखबारों के मुख्य लेख' सुनिए यह अखबार पढ़ने से अच्छा होगा। पहले मैं आप के लिए अक्सर डाकघर जाती थी और तरह-तरह के अखबार बुक करती थी। मेरे ख्याल में वह बहुत फिजूलखर्ची है। वास्तव में उन अखबारों में जो छपना है, एक ही चीज़ होती है, है न?" हाथ में वह छोटा और सुन्दर-सा रेडिया उठाकर देखती हुई मैं हंस पड़ी। मैंने कहा, "अखबारों में सिर्फ समाचार ही नहीं, और अनेक कॉलम भी छपे हैं। जब हम वे अखबार पढ़ चुकें, तो उन्हें इकट्ठा कर रद्दी लेने वाले को बेच सकती हैं और इस के बदले कुछ पैसे भी मिलते हैं न!"

मेरी यह बात पूरी ही नहीं हुई, श्याओं फाङ कह दी, "आप को मालूम नहीं, 'रद्दी' के दाम गिर गये हैं। आज सब लोग कहते हैं कि चीज़ें दिन-पर-दिन महंगी हो रही हैं, बस सिर्फ दो चीज़ों के दाम गिर रहे हैं। एक 'रद्दी' का है, दूसरा बुद्धि . . . ." यही कहकर श्याओं फाङ रुक गई।

अचानक मेरा मन भारी हो गया और मन ही मन कहा, "हां, 'रद्दी' के साथ हम लोग भी गिर गए हैं, यह तो मुझे पहले ही मालूम था।" □

1. पेंजिंग में बना एक प्रकार का मशहूर और लोकप्रिय सोयाबीन का पनीर

अनजानी तिथि का चाँद

□ तरुणकांति मिश्र

अंततः मैंने सोचा था कि यह कहानी नहीं लिखूँगा। यह एक ऐसी कम उम्र और समय की कहानी है जिसे इतने दिनों बाद लिखने का कोई मतलब ही नहीं था।

मैंने कहा—कम उम्र और समय। किंतु क्या यह कहना ठीक है? आज से अठारह साल पहले, जब मेरी उम्र सिर्फ सत्रह वर्ष थी, क्या मेरी उस समय की सांसें आज की तरह गहरी नहीं थीं? क्या उम्र का अनुभव इतना निजी, इतना घनिष्ठ नहीं था? यदि नहीं, तो आज तक वे स्मृतियाँ मुझमें जीवित कैसे हैं?

यह कहानी लिखते समय मेरी आँखों के आगे एक चेहरा उभरने लगा है। चाँदनी से भीगी रात-सी स्निग्ध कोमल एक युवती का चेहरा और उसके साथ-साथ कुछ छितराये दृश्य। मुझे डर है कि मैं उस चेहरे के बारे में, अठारह साल पहले के उन बीते दिनों के बारे में, ठीक से कुछ कह नहीं पाऊँगा।

महाकाल के संचार पथ पर अठारह साल संभवतः कोई लंबा समय नहीं होता, किंतु एक मनुष्य के जीवन में यह सफ़र काफ़ी लंबा है। और मैं जिस माहौल व अनुभव की बात कह रहा हूँ, वह मेरी आज की दुनिया से काफ़ी भिन्न है। फिर भी, जब शुरू कर ही चुका हूँ, यह कहानी खत्म करनी ही होगी।

यहाँ से लगभग डेढ़ हज़ार मील दूर पखानजूर नामक एक छोटी-सी बस्ती है। मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र की सीमा पर स्थित यह इलाका पच्चीस साल पहले सिर्फ जंगल ही जंगल था। दंडकारण्य प्रखंड की शुरूआत होने के बाद पहली बार वहाँ मनुष्य के पैर पड़े। धीरे-धीरे अनेक शरणार्थी बस्तियाँ बनीं। बने रास्ते, अस्पताल, स्कूल और वेश्यालय।

दंडकारण्य से मेरा परिचय बहुत पुराना है। इस प्रखंड के पाँच हजार कर्मचारियों में मेरे पिता भी एक थे। आफिसर ग्रेड में पदोन्नति पाकर वे उस समय पखानजूर आए थे जब मैंने इंटर साइंस के बाद रायपुर इंजीनियरिंग कॉलेज में दाखिला लिया था। पहले पिता जी की इच्छा कोरापुट छोड़कर इस दूर-दराज़ के इलाके में आने की नहीं थी। किंतु माँ ने कहा—यह तो बहुत अच्छा हुआ। रायपुर से पखानजूर करीब पड़ेगा। सरोज जब भी चाहेगा घर आ सकता है। आप डी. सी. से 'हाँ' कह दीजिए।

हमारे परिवार के एक और सदस्य की भी पखानजूर जाने की बिल्कुल इच्छा नहीं थी। वह थी नंदिता—मेरी छोटी बहन। यह सच है कि वहाँ पढ़ाई के लिए उसे स्कूल तो मिल जाएगा, किंतु स्कूल से लौटने के बाद समय काटने के लिए क्या उसे मन-मुताबिक सहेलियाँ मिलेंगी?

माँ ने गंभीर स्वर में नंदिता से कहा—इस वर्ष तेरी बोर्ड की परीक्षा है। साथ-सहेली ढूंढ़ने में समय न गंवाकर किसी तरह मैट्रिक पास तो करना ही होगा। समझी?

Hira Lal Thakur
BADAH P.O. MOHAL
KULLU-175126 H.P.

समझने की कोशिश न करके नंदिता ने खामोश विद्रोह से मुँह बिचका दिया था।

लेकिन पखानजूर पहुँचकर नंदिता ने मुझे जो पत्र लिखा था, उसमें एक तरह के अद्‌भुत उच्छवास का स्वर था। उसने लिखा था, वन-पहाड़ों से घिरी वह जगह उसे बहुत अच्छी लग रही है। बेहद खूबसूरत। विशेष रूप से खूबसूरत है जापानी विशेषज्ञों के निवास के आगे बना विशाल जल-भंडार। मानों कोई प्राकृतिक झील हो।

उसके बाद के पत्रों में पखानजूर के बारे में बहुत-सी ख़बरें थीं, उसकी पढ़ाई-लिखाई के बारे में भी। लेकिन यह बात उसने पत्रों में कतई नहीं लिखी थी कि वहाँ जाकर वह एक प्रभावशाली महिला नेता बन गई है।

उसका प्रमाण मुझे तब मिला, जब मैं पहली बार पखानजूर गया। अपनी कई हम-उम्र लड़कियों को साथ लेकर उसने एक सांस्कृतिक संस्था बनायी थी और उसी की कोशिश से उस बार एक नृत्य-नाटिका की तैयारी भी हो रही थी।

जंगल-भरी पृथ्वी से कुछ संघर्ष और कुछ समझौता करके जीना चाहते थे, पूर्वी बंगाल के शरणार्थी। उनके लिए काम करने वाले कर्मचारी भी उसी संघर्ष और समन्वय में बराबरी के भागीदार थे। उन सबके सम्मिलित प्रयास से ही इस प्रखंड में एक नई संस्कृति पैदा हुई है। हर वर्ष कुछ न कुछ सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं, तीन सौ मील दूर से कभी-कभी प्रखंड के मुख्य प्रशासक भी आकर इस उत्सव में शामिल होते हैं।

उस बार भी वैसा ही आयोजन चल रहा था। कॉलोनी की लड़कियों के ज़िम्मे एक नृत्य-नाटिका थी, जिसकी मुख्य संचालिका थी नंदिता।

रायपुर से आकर घर पर क़दम रखने के बाद से ही नंदिता अपनी हर बात मुझसे लगातार बताती रहती। ख़ासकर नृत्य-नाटिका के बारे में। उनका कार्यक्रम देखकर प्रत्याशित मुख्य अतिथि चीफ एडमिनिस्ट्रेटर निश्चित ही मुग्ध हो जाएंगे, इस बारे में उसे ज़रा भी संदेह नहीं था।

मैं मुस्कुराया। प्रखंड के मुख्य प्रशासक एक आई. सी. एस. आफीसर हैं। बदकिस्मती से कोरापुट में पड़े हैं। वे भला तुम्हारी नृत्य-नाटिका देखकर मुग्ध होंगे?

मुग्ध होंगे या नहीं, तुम ही कहना। किसी दिन हमारा रिहर्सल देखने आओ, उसके बाद।

नंदिता का रिहर्सल देखने की मुझमें ज़रा भी इच्छा नहीं थी। लेकिन उससे सूचना मिलती कि तैयारी जोर-शोर से चल रही थी और स्टेज़ पर खड़ी होकर सुचरिता निश्चित ही सबको मोह लेगी।

—यह सुचरिता कौन है?

—वही तो है श्रीराधा।

—अब यह श्रीराधा कौन है?

उसके बाद नंदिना का स्वर खिन्न सुनाई दिया। उसने कहा—तुम इतनी जल्दी सारी बातें भूल जाते हो? कल मैंने तुमसे बताया नहीं था कि सुचरिता हमारी 'श्रीराधा' नृत्य-नाटिका में हिरोइन बनी हैं?

उसके बाद उसने सुचरिता की प्रशंसा करते हुए बहुत-सी बातें बताई थीं, जो मैंने ध्यान से नहीं सुनी थीं।

ठीक उसके दूसरे दिन सुचरिता से मेरी मुलाक़ात हो गई। उसी के बारे में है मेरी यह कहानी।

उन दिनों हवा में माघ-फागुन की कोमल ठंडक थी। आसमान साफ नीला था। उस युवती की पाप से अछूती आँखों की तरह।

लेकिन उस दिन शाम को आसमान का रंग एकदम बदल गया था। पर्वतों के संधि-स्थल से बे-मौसम

बादल घिर आए थे और बारिश भी हुई थी, थोड़ी-बहुत हवा के साथ।

मैं एक चादर ओढ़े बेड़-रूम में जॉर्ज गॉमो की वैज्ञानिक पहेलियों की किताब लिए बैठा पढ़ रहा था।

ठीक उसी समय काफी घबरायी हुई-सी नंदिता अंदर कमरे में आई। उसने कहा—भैया, एक समस्या आ गई है।

किताब के पन्ने से मुँह उठाकर उसकी ओर देखा। मैंने चुटकी लेते हुए कहा—क्या हुआ? क्या श्रीराधा कल रात से गुम हो गई है?

मुझे परदे की ओट से एक अपरिचित युवती का चेहरा दिखाई दिया। उसी की ओर अंगुली से इशारा करके नंदिता ने कहा—भैया, यह मेरी सहेली सुचरिता है। इसी को लेकर इस समय एक समस्या उपजी है।

सुचरिता ने हाथ जोड़कर मुझे नमस्ते किया, किंतु मैं इतना घबरा गया था कि उसे उलटकर नमस्ते तक नहीं कर पाया था।

उसके बाद नंदिता ने मुझे अपनी परेशानी बतलाई थी।

हर रोज शाम को स्कूल से एक घंटा पहले छुट्टी लेकर नंदिता और उसकी अन्य सहेलियां छह बजे तक रिहर्सल करती थीं। उसके बाद सभी अपने अपने घर चली जातीं।

पखानजूर से सात मील की दूरी पर काप्सी प्रोजेक्ट की एक और कॉलोनी है जहाँ मेडीकल और इंजीनियरिंग के दफ्तर हैं। उस कॉलोनी में आवाजाही के लिए सिर्फ एक ही बस है। वह बस सुबह दस बजे पखानजूर आती है और शाम को छह बजे काप्सी लौट जाती है।

सुचरिता काप्सी अस्पताल के फर्मासिस्ट की लड़की है। वह रोज उसी बस से आती-जाती है। उसे कोई दिक्कत नहीं थी। लेकिन आज यकायक बादल-बारिश के कारण उसे क्लब में ही रुकना पड़ा और बस अपने समय पर काप्सी लौट गई।

परन्तु इस समस्या के लिए मेरे पास कौन-सा समाधान है?

कोई गंभीर अपराध करने की तरह सुचरिता सिर झुकाए बैठी थी और मैं बुरी तरह खुद को कोस रहा था कि श्रीराधा के बारे में इस समय मज़ाक न किया होता तो कम से कम मुझ जैसे सत्रह वर्षीय व्यक्ति के लिए अधिक सम्मानजनक होता।

मुझे चुप्पी साधे देख नंदिता ने कहा—भैया, क्या तुम हमें ज़रा हेल्प नहीं करोगे?

कैसी हेल्प चाहती है नंदिता मुझसे? क्या मैं बस वाले से जाकर कहूं कि बस लौटा लाए, श्रीराधा जाएंगी? मैंने मन ही मन यह सवाल किया और अपने उस अपरिपक्व सोच के लिए पुनः क्षुब्ध हुआ।

नंदिता ने कहा—तुम ज़रा सुचरिता को उसके घर छोड़ आवोगे?

पहले तो मैंने चौंकते हुए सोचा कि नंदिता ने मुझसे जो कुछ कहा वह मैंने ठीक-ठीक सुना या नहीं? इस वक्त रात के आठ बजने वाले थे और आसमान में घटाटोप बादल डोल रहे थे, डेमोक्लिस की तलवार की तरह। ऐसे में क्या मैं सात मील तक चलकर जाऊँगा, वह भी एक लड़की के साथ?

नंदिता हर तरह से सोच-विचारकर मेरे पास आई थी। पिताजी से उचित राय लेकर। उसने कहा-पिताजी से पूछ चुकी हूँ। इस समय उन्हें कहीं नहीं जाना। तुम उनकी मोटर साइकिल लेकर सुचरिता को छोड़ आओ ना।

उस दिन की बातचीत मैं और अधिक नहीं बढ़ाऊँगा, पर इतना ज़रूर उल्लेख करूँगा कि अनेक दुविधाओं और तर्क-वितर्क के बाद मुझे नंदिता का अनुरोध मानना ही पड़ा।

तर्क की बनिस्वत उस दिन मुझमें दुविधा अधिक थी। परेशानी में पड़ी सहायता मांग रही युवती के आगे सत्रह साल का एक युवक ज़्यादा तर्क-वितर्क नहीं कर सकता, यह सही है। पर मन के भीतर की दुविधा के कई कारण होते हैं।

इस वक्त दिल्ली महानगरी के एक जाने-माने इंजीनियरिंग संस्थान के ऑफिस में बैठा मैं सोच रहा हूँ कि अठारह साल पहले के उस अनुभव को किन शब्दों में बयान करूँ। नारी-पुरुष में जो सहज संकोच होता है, उसकी अधोगति का नाम यदि सभ्यता है, तब तो यह दिल्ली शहर ही उसकी अंतिम सीमा है। इस सीमांत में बैठकर मैं कैसे वर्णन करूँगा जंगलों से घिरे अर्वाचीन जनपद का वह दृश्य?

उस समय रात के लगभग आठ बजे होंगे। हवा में भीगी मिट्टी की महक और अनेक अनजान जंगली फूलों की सुरभि व्याप्त थी। आगे सुनसान रास्ता, बारिश से भीगे अंधेरे में मोटर-साइकिल की रोशनी भर थी।

सुचरिता के बैठने के ढंग से मैं जान गया था कि वह पहली बार बाइक में बैठी है। टेढ़े-मेढ़े जंगली रास्ते में वह अपना संतुलन ठीक से बना नहीं पा रही थी और मेरी पीठ से टिककर बैठने में हिचकिचा रही थी।

सात मील का रास्ता पार करने में अधिक समय नहीं लगा। मैं मोटर साइकिल भीतर कॉलोनी में ले गया। कुछ दूर जाने के बाद उसने धीरे से फुस-फुसाकर कहा—यह सामने हमारा मकान है।

बिना किसी आहट के सुचरिता मोटर साइकिल से उतरी। कुछ बोले बगैर गेट के अंदर चली गई। इस अंदाज़ में मानों इस दुनिया में मेरा कोई अस्तित्व ही न था।

मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ था। बड़ी अज़ीब लड़की है यह तो। देखो, धन्यवाद तक न कहकर किस तरह झटपट चली गई।

निश्चित ही वह शर्मीली नहीं, बल्कि संभवतः गर्वीली अधिक है। सुंदर लड़कियाँ तो आम तौर पर गर्वीली ही होती हैं। और फिर नाच-गाना जानने वाली सुदरियों में तो ज़्यादा ऐंठ होनी ही चाहिए।

दूसरे, दिन, दोपहर को खाना खाते समय नंदिता ने मुझसे कहा—भैया, आज क्लब में हमने एक डिसीज़न लिया है।

—कैसा डिसीज़न?

—डिसीज़न वाक़ई खतरनाक था। सुनते ही मेरे गले में कौर फँस गया। दो घूँट पानी पीने के बाद मैंने पूछा—इसका मतलब तू यह सोच रही है कि . . . .

सिर्फ मैं ही नहीं, क्लब के अन्य सदस्यों ने भी यही सोचा है। उस दिन गेम्स पीरियड में क्लब की एक अनौपचारिक बैठक के बाद सबने यह तय किया था कि फिलहाल यही करना उचित होगा। ग्यारह कलाकारों में से केवल सुचरिता ही काप्सी से आना-जाना करती है और वही इस नृत्य-नाटिका की नायिका है। और सात दिन के बाद जिस कार्यक्रम का आयोजन होगा, उसके लिए काफी समय तक रिहर्सल करने की आवश्यकता है। यदि किसी तरह सुचरिता आठ बजे तक रुक जाती, और भैया, तुम रोज़ाना उसे मोटर साइकिल में बिठाकर उसके घर छोड़ आते तो . . . .

नंदिता का यह प्रस्ताव मेरे लिए बड़ा अज़ीब था। इस तरह के प्रस्ताव का मैं क्या जवाब दूँ, यह तय करने से पहले ही माँ बीच में बोल पड़ी—इस नाच-गीत के नशे में इस साल तू मैट्रिक ज़रूर फेल होगी, यह बात मुझे अच्छी तरह मालूम है. . । मैंने अति उत्साहपूर्वक माँ की बात का समर्थन किया होता; किन्तु मुझे मालूम था इस विशेष आयोजन के पीछे पिताजी का वरदहस्त है। वे चाहते हैं कि चीफ एडमिनिस्ट्रेटर यहाँ आकर इनका कार्यक्रम देखकर खुश हों और उन्हें यह पता चले कि नंदिता पटनायक उनकी बेटी है। लेकिन

मेरा भी तो एक अपना व्यक्तित्व है। अपनी स्वतंत्र राय भी। मछली से कांटा निकालने के काम में कुछ देर चुप रहने के बाद, मैंने मन ही मन अपने व्यक्तित्व का खाका तैयार किया और गंभीर होकर कहा—मैं जो कुछ कहता हूँ सुन, इन सब फालतू कामों के लिए मेरे पास ज़रा भी समय नहीं है।

—तुम इसे फालतू काम कह रहे हो, भैया। कला संस्कृति . . . .ये फालतू काम हैं? तुम साइंस के छात्र हो तो क्या सारी दुनिया सिर्फ मैथेमैटिक्स रटती रहेगी, लेबोरैटरी में बैठी मेढ़क और केंचुआ का सिर चबाती रहेगी?

उसके बाद काफ़ी देर तक बातचीत होती रही, जिसका विवरण मैं यहाँ नहीं दूंगा। किंतु अंत में राज़ी न होने के पक्ष में कोई ज़ोरदार तर्क न पाकर, मैं चुप हो गया था।

उस दिन शाम को भी सुचरिता को छोड़ने मुझे काप्सी जाना पड़ा। हालांकि उस दिन आसमान में बादल नहीं थे, न ही हवा में भीगी-भीगी सिहरन थी। किंतु सात मील लंबे अंधेरे में एक अस्पृश्य कोमलता और कई अंजुली गर्म सांसें मेरा पीछा कर रही थीं।

उस रोज घर लौटकर मैंने नंदिता से कहा था—कुछ भी बोल, तेरी यह सहेली है बहुत अशिष्ट।

इससे पहले कि नंदिता की आँखों में विस्मय भरे सवाल उभरें, मैंने अपनी बात अधिक तर्कसंगत बनाते हुए कहा—पिछले दो दिनों से इतना परेशान होकर उसके लिए ड्राइवरी कर रहा हूँ, किंतु उसकी सज्जनता तो देख, सामान्य-सा धन्यवाद तक नहीं कहा उसने। कितना गर्व है उसमें।

नंदिता ने कहा था—भैया, सुचरिता को तुम गर्वीली कहते हो? आखिर तुमने उसके बारे में यही राय बनाई?

ऐसी राय बनाए बगैर और कोई उपाय भी तो नहीं था। स्टेज पर खड़ी होकर धेई-धेई नाचने वाली लड़की इतनी शर्मीली है। किसी से अच्छी तरह बात तक नहीं कर सकती। स्टेज पर खड़ी होकर इतना सुंदर गाती है, नाचती है, पर स्टेज से उतरते ही वह बिल्कुल बदल जाती है। बेइंतहा शर्मीली हो जाती है।

वह इस बात के लिए काफी चिंतित है कि तुम उसके लिए इतनी परेशानी उठा रहे हो। उसने मुझसे कई मर्तबा कहा है कि "अपने भैया से कह देना, बुरा न मानें; मेरे लिए उनका बहुत समय बर्बाद होता है। कहना, मुझे माफ कर दें।"

इतना सुनने के बाद सत्रह साल के किसी युवक का चुप्पी साध लेना स्वाभाविक है।

सच ही कहूँगा, पिछले दो दिनों से मैं सुचरिता को अच्छी तरह देख भी नहीं सका था। वह चुपचाप पिलियन पर बैठ जाती, सात मील तक मेरी आँखों की ओट में रहने के बाद पुनः चुपचाप मेरे पीछे से आकर अंधेरे में डूबे मकान के बरामदे में अदृश्य हो जाती।

लेकिन आज हम दोनों ने एक-दूसरे को अच्छी तरह देखा था। उसने देखा होगा, मैं भी कितना शर्मीला हूँ।

कृष्ण पक्ष की धुँधली चाँदनी काप्सी की ओर पसरी सड़क और दोनों ओर के जंगलों में बिखरी हुई थी। थोड़ी दूर जाने के बाद एक शरणार्थी बस्ती को पार करके मोटर-साइकिल का इंजन अचानक बंद हो गया।

मैं कुछ समझ नहीं पाया। कुछ घबराया हुआ-सा बाइक खड़ा किया। सुचरिता की आवाज़ कुछ सहमी हुई थी। उसने पूछा—क्या हुआ?

क्या हुआ मैं भी नहीं जान पा रहा था। मुझे मोटर साइकिल सिर्फ चलानी भर आती है, उसकी मशीनरी के बारे में मेरी कोई जानकारी नहीं।

कई बार इंजन स्टार्ट करने की असफल चेष्टा करने के बाद मैंने अपनी अज्ञानता स्वीकार कर

ली। मीठी आवाज़ में पूछा—अब क्या करें?

आकाश में अनजानी तिथि का चाँद था। पेड़-पौधों पर अनजाने पक्षियों और पतंगों का स्वर। पीछे कुछ ही दूरी पर एक शरणार्थी बस्ती।

"कितनी दूर है काप्सी यहाँ से?" सुचरिता ने पूछा।

"लगभग तीन मील।"

"ठीक है, चलिए पैदल चलें।"

सुचरिता का आश्वासन मुझे उतना उपयुक्त नहीं लगा। उस वीरान रास्ते में सिर्फ हम दोनों, यह सोचते ही मेरे सीने में एक तरह के अद्‌भुत भय और साहस की मिलाजुली सिहरन फैल गयी थी। उसके प्रभाव से मेरी निगाह उस पर कुछ देर तक टिकी रही।

पंद्रह साल की किसी युवती का वर्णन मैं कैसे करूँ? मैं कैसे अभिव्यक्त करूँ अपना अनुभव, उस समय मेरी उम्र थी सिर्फ सत्रह साल। सुचरिता लड़की है, एक जीवित शरीर-मन-आत्मा, इससे अधिक भला और क्या कहने की ज़रूरत है?

सुचरिता के बदन से शायद एक अद्‌भुत खुशबू निकल रही थी। उसके हर पग पर एक अद्‌भुत संगीत-लहरी थी, और उसकी तेज सांसों में था नामहीन उत्ताप का कोमल प्रवाह।

मुझे मदहोशी-सी लग रही थी। पैर कुछ लड़खड़ाने लगे थे। शायद मोटर साइकिल का वजन मेरे पैरों को कमज़ोर कर रहा था, या फिर अन्य कोई अनास्वादित चेतना।

सुचरिता ने मेरी ओर देखा। उसने कहा—आप थक गए होंगे। चलिए यहीं बैठते हैं कुछ देर।

मेरे जवाब का इंतज़ार किए बिना वह सड़क किनारे बनी एक छोटी-सी पुलिया पर बैठ गई।

मोटर साइकिल खड़ी करके मैंने चारों ओर देखा। पुल के नीचे बह रहे पहाड़ी सोते का कलकल स्वर मुझे साफ-साफ सुनाई दे रहा था।

उसी निर्जनता में सुचरिता ने चुप्पी तोड़ते हुए पूछा—क्या आप हमारा प्रोग्राम देखने आएंगें?

और पाँच दिन के बाद प्रोग्राम है। मेरी छुट्टी अभी बारह दिन और है, इसलिए प्रोग्राम न देखने का कोई कारण नज़र नहीं आता। मुझसे इस तरह का जवाब सुनकर सुचरिता ने कहा—मैंने सोचा था, आप नहीं आएंगे।

ऐसा उसने क्यों सोचा था? इस सवाल का जवाब खुद उसी ने दिया "नंदिता कहती थी, आपको नाच-गाना बिल्कुल पसंद नहीं।"

इस लड़की के आगे नंदिता ने मुझे काफी बदनाम कर रखा है; इसमें संदेह नहीं। इस समय क्या कहकर अपना महत्व बचा सकता हूँ, ठीक से सोच नहीं पाया। कुंठित स्वर में बोला—"नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं—मतलब, मैं साइंस का छात्र हूँ तो, इन सबमें इंटरेस्ट लेने का समय ही नहीं मिल पाता।"

सुचरिता ने यह तर्क मान लिया। उसने कहा, "हां, आप तो पढ़ाई में काफी तेज भी हैं, आई. एस. सी. में तो पोजीशन थी आपकी; मैंने सुना है।"

वस्तुतः इस तरह परोक्ष रूप से मैं अपनी प्रशंसा कतई नहीं करवाना चाहता था। मैं शर्म से पानी-पानी हो गया। उस मनोभाव को छिपाने के लिए मैंने पुनः मोटर साइकिल स्टार्ट करनी चाही। और देखो क़िस्मत भी, इंजन तुरंत स्टार्ट हो गया। पहले तो विश्वास ही नहीं हुआ।

उस दिन की बातचीत उतनी ही थी। यदि रास्ते में उस तरह की कोई अनहोनी असुविधा न हुई होती तो शायद जीवन में हम दोनों की कभी बातचीत ही न हुई होती।

मैं एक बात सोचता हूँ; शायद दो शर्मीले इंसान बहुत जल्दी एक-दूसरे को पहचान लेते हैं। उनके संकोच की सहजात बाधा संभवतः बड़ी आसानी से अंतर्ध्यान हो जाती है। वरना इस कहानी के अगले पृष्ठ किस तरह लिखे जाते?

दूसरे दिन बाइक में जाते समय सुचरिता ने आहिस्ता से अपना हाथ मेरे कंधे पर रखा था, ठीक उतना ही ज़ोर देकर, जितना कि सुरक्षित और स्वाभाविक यात्रा के लिए आवश्यक था। उसके मृदु स्पर्श से मेरा शरीर उसी तरह सिहर उठा, जैसे स्वादिष्ट कुलफी का टुकड़ा मुंह में घुल जाने से लगता है।

उस दिन रास्ते में कोई परेशानी नहीं हुई। बाइक ठीक से चल रही थी। किंतु मैं ठीक उसी पुल के पास ठहर गया, जहाँ कल हम कुछ देर रुके थे।

पुल के पास बाइक रोकते ही सुचरिता ने पूछा, "आज फिर क्या हो गया?"

मैं खुद ही नहीं समझ पा रहा था कि बाइक मैंने क्यों और कैसे रोक दी। अपना अपराध स्वयं अस्वीकार करने-सा बोला, "कल मैं यहाँ एक चीज़ छोड़ गया था।

"क्या चीज?"

मैं शायद उतना हाज़िर जवाब नहीं था। मैंने कहा, "मेरी कलम खो गई है। सोचा, शायद यहीं कहीं गिरी होगी।" मैं तुरंत कलम ढूंढ़ने का अभिनय करने लगा।

अपने उस मिथ्यावादी मनोभाव के लिए बाद में मुझे कभी कोई पछतावा नहीं हुआ, हालांकि कभी-कभी उस बारे में सोचकर शरमाया ज़रूर हूँ।

मैं कलम ढूंढ़ने लगा और सुचरिता पुल पर बैठकर चारों ओर देखने लगी। कुछ देर बाद उसने मधुर आवाज़ में कहा, "कितनी सुंदर है यह जगह।"

मैंने तुरंत हामी भरते हुए कहा था, "दंडकारण्य वाक़ई बहुत सुंदर है।"

"मिली आपकी कलम?"

सुचरिता के सवाल करने के लहज़े से मैं समझ गया कि वह खुद इसका उत्तर जानती है। कलम मुझे नहीं मिली।

मैंने जो जवाब दिया, उसका मतलब था, "शायद कलम और कहीं छोड़ आया हूँ। ठीक है, चिंता की कोई बात नहीं। कोई खास क़ीमती कलम भी नहीं थी।"

मेरे इस जवाब के बाद भी सुचरिता उसी तरह पुल पर बैठी रही।

अन्यमनस्क-सी चारों ओर देखने के बाद बोली, "मैं बहुत नर्वस हो रही हूँ।"

"क्यों?" मैंने पूछा।

छोटे-बड़े हर कलाकार के मन में संभवतः एक संदेह, एक आशंका रहती है। कल्पना के किसी रूप को साकार करने वाले प्रत्येक कलाकार में ठीक से कला प्रदर्शन न कर पाने जैसा एक क्षुद्र-बोध होता है। सुचरिता उसका अपवाद नहीं थी।

हालांकि इतनी बातें मैंने उस दिन नहीं सोची थीं, किंतु जब सुचरिता ने चार दिन बाद आने वाली शाम के लिए उद्वेग प्रकट किया, मैंने कहा, "आप तो अच्छा पार्ट कर रही हैं, नंदिता कह रही थी।"

उसके बाद मानो मुझे मौका मिल गया, अपनी कल की बातचीत के दौरान हुई ग़लती सुधारने का। मैंने कहा कि नाच-गाना मैं पसंद नहीं करता, लेकिन सच कहूँ तो मैं ये सब ठीक से समझ नहीं पाता। ठीक जिस तरह कि आधुनिक कविताएँ, क्या होता है इन कविताओं का मतलब?

सुचरिता ने अपनी पंद्रह साल की उम्र के अनुभव के आधार पर मुझे समझाने की कोशिश की थी,

नाच-गाना, कला-साहित्य आदि के बारे में और अंत में उसने कहा था, "कई बातें समझ में नहीं आतीं, उन्हें केवल महसूस किया जाता है। और यही काफी है। यह गणित तो है नहीं कि स्टेप-बाइ-स्टेप समझना पड़े।"

उस दिन नहीं, उसके दूसरे दिन उसने मुझसे पूछा, "आपने गीतांजलि पढ़ी है?"

मैंने अस्वीकार करते हुए कहा था, "मुझे बंगला भाषा नहीं आती।"

"मैं भी बंगला नहीं जानती। मेरे पास अंग्रेजी में है गीतांजलि। उसकी कई बातें समझ नहीं आतीं, किंतु बहुत अच्छी लगती हैं पढ़ने में। ऐसा लगता है जैसे कि यह सारी पृथ्वी बहुत अपनी है। सारे दुखों और सुखों की। मैं कभी दूंगी वह पुस्तक आपको, पढ़कर देखिएगा।"

अब मुझे स्वीकारने में शर्म नहीं है कि तब मेरे मन में सुचरिता के लिए एक तरह की कमज़ोरी आ गई थी। मन ही मन सोच रहा था कि मैं जिस लड़की से शादी करूँगा वह भी ठीक इसी सुचरिता जैसी होनी चाहिए। उसके बाद सोचा था यदि वह लड़की स्वयं सुचरिता ही हो तो क्या हानि है?

लेकिन क्या यह संभव है?

फिर मन ही मन सोचा था, क्यों नहीं है संभव? तरह-तरह के तर्क उठ रहे थे मन में। हालांकि अब उनका कोई अर्थ नहीं।

तीन दिन बाद सांस्कृतिक कार्यक्रम हुआ था। मुख्य प्रशासक आए थे। मैंने मुक्ताकाश थियेटर के एक कोने में खड़े होकर सुचरिता को देखा था। उसके बाद बाकी बची रात मैं सो नहीं पाया। अंधेरे में उठता-बैठता, खिड़की के पास जाकर खड़ा रहता। देखता नीले आकाश को, चाँदनी से नहायी पृथ्वी को, और अभिसारिका श्रीराधा के रूप में अभिनय करती सुचरिता को।

मेरे मन में कई सवाल उठे थे। क्यों है पृथ्वी इतनी सुंदर? क्यों होती है फूलों में खुशबू? क्यों बादल और तारों के अंतराल में सपनों की आकाश-गंगा फैल जाती है दूर तक, क्यों मनुष्य के शरीर-मन-आत्मा के द्वार-रहित मंदिर में अकारण ही गूँजने लगता है एक विचित्र संगीत?

उसके बाद कहा जाए तो सुचरिता से मेरी मुलाकात नहीं हुई। होने की आवश्यकता भी नहीं थी। उनकी नृत्य-नाटिका सफलतापूर्वक मंचित हुई थी। और उसके बाद नंदिता अपने क्लब के लिए एक लाइब्रेरी बनाने में जुट गई थी।

अभी-अभी मेरा यह कहना कि सुचरिता से फिर मेरी मुलाकात नहीं हुई थी, सही नहीं है। उससे सिर्फ और एक बार मामूली-सी मुलाकात हुई थी—महज़ एक मिनट के लिए। जिस दिन मुझे रायपुर लौटना था उसके दो दिन पहले वह नंदिता के साथ हमारे घर आई थी। मौका मिलते ही वह मेरे पास आई और बिना भूमिका के उसने मेरी ओर बढ़ा दी थी रवींद्रनाथ की गीतांजलि। उसने कहा था, "आज रात यह पुस्तक पढ़िएगा। आज रात ज़रूर।"

शायद उसके बाद उसने और भी कुछ कहा होता, लेकिन नंदिता के आ जाने की वजह से वे दोनों लाइब्रेरी चली गई।

हाथ में गीतांजलि लिए मैं काफी देर तक अन्यमनस्क रहा। सुचरिता के चेहरे पर आज कोई और भाषा थी, कोई और चमक।

मुझे लगा, शायद सुचरिता पृथ्वी की सबसे सुंदर लड़की है। सबसे अधिक आकर्षक भी। मैंने वह पुस्तक खूब सहेजकर अपने बक्से में रख ली।

दो दिन बाद मैं रायपुर चला आया। वहाँ का अलग माहौल। अलग दिनचर्या। तमाम व्यस्तताओं के बीच भी रह-रहकर मुझे सुचरिता का चेहरा याद आता। हठात् उदास हो उठता मेरा निस्संग हृदय।

गीतांजलि पुस्तक के बारे में मैं भूल चुका था। एक सेमिस्टर की परीक्षा खत्म होने के बाद एक दिन अचानक उसकी याद आई। बक्से से निकालकर वह पुस्तक मैं हाथ में लिए हुए था। मुझे लगा, मेरे हाथ में मुट्ठी भर कागज़ नहीं, बल्कि मुट्ठी भर साँसें हैं, मुट्ठी भर अशरीरी स्पंदन हैं।

पुस्तक के पृष्ठ उलटते-उलटते ठक से एक छोटा-सा कागज़ उससे गिरा। मैंने आश्चर्य से उस कागज को उठाया। देखा। वह तीन पंक्तियों की एक चिट्ठी थी। वह चिट्ठी किसी को संबोधित नहीं थी, उसमें केवल एक नाम लिखा था : सुचरिता।

चिट्ठी में लिखा था :

आपसे एक खास बात कहानी है। कल शाम पाँच बजे जापानी गेस्ट हाउस के पास वाली झील पर आइएगा। मैं इंतज़ार करूंगी। इति। सुचरिता।

मैंने उसे बार-बार पढ़ा। किसको लिखी गई है यह चिट्ठी? मुझे? क्या यह चिट्ठी सुचरिता ने मुझे लिखी थी?

कुछ देर सोचने के बाद मेरे मन में संदेह नहीं रह गया था। मुझे उसकी वह बात याद आयी : आज रात यह पुस्तक पढ़िएगा। आज रात ज़रूर।

किंतु मैंने उस दिन रात वह पुस्तक नहीं खोली थी। इसलिए चिट्ठी देखने का मौका ही नहीं मिला। उसके दो दिन बाद मैं रायपुर चला गया। सुचरिता का वह छोटा-सा अनुरोध पूरा नहीं कर सका।

वह निर्धारित शाम न जाने कब से महाकाल के अंधेरे में समा गयी। आज से सत्रह साल पहले की एक कोमल फागुनी संध्या, एक सिकुड़ी झील के किनारे।

किंतु उस दिन मुझसे क्या कहना चाहती थी सुचरिता? कौन-सी ख़ास बात?

मैं नहीं जानता। शायद इस जीवन में न भी जान सकूँ। उसके बाद सुचरिता से मेरी मुलाकात कभी नहीं हुई। भविष्य में भी कभी न हो। और यदि मुलाकात हुई भी तो क्या वह मुझसे बताएगी, जो कुछ वह बताना चाहती थी आज से अठारह साल पहले—जब उसकी उम्र थी पंद्रह साल, और मेरी सत्रह से कुछ अधिक।

कभी-कभी मैं मन ही मन दृश्य-चित्र बनाने की कोशिश करता हूँ : पेड़-पौधों से घिरी झील के किनारे अकेली लड़की, चुपचाप खड़ी है, किसी का बेसब्री से इंतज़ार करते हुए। पीछे की ओर फागुन की कोमल शाम। आँखों के आगे अंतहीन नीला आकाश।

कितनी रात गए, दिल में कितनी निराशा भरकर पंद्रह साल की युवती उस दिन घर लौटी होगी? कैसे लौटी होगी वह अकेली सात मील लंबा रास्ता अंधेरी रात में? क्या सोचती हुई?

कभी-कभी मुझे यह बात याद आती है। मेरे चहूँ ओर की पृथ्वी विषाद से घिर जाती है।

किंतु सुचरिता, यदि तुम अब भी इस तुच्छ, असार पृथ्वी के किसी अनजाने पते पर जीवित हो तो कृपा करके मायूस मत होना। तुम्हीं ने तो कहा था—सारी बातें समझने की ज़रूरत नहीं, उनका एहसास ही काफी है। उस दिन मैं जो तुम्हारी ख़ास बात नहीं सुन पाया, उसके लिए किसी को अफ़सोस करने की कोई ज़रूरत नहीं है।

क्या मैंने एहसास नहीं किया है, उस दिन तुम मुझसे जो भी कुछ कहना चाहती थी? ❐

अनुवाद : डॉ. राजेंद्र प्रसाद मिश्र

कविता

चार कविताएँ

❑ वंशी माहेश्वरी

मैत्री भाव

जहाँ तक जितनी दूर तक
शायद वहाँ तक
जहाँ बिछी है हरियाली
आँखों की जोत देख पाती है
उतना हरापन
जितना बाहर बिछा है

भीतरी जड़ें
बुद्धि के लिए सोचने की वस्तु रह गई हैं
शायद जड़ों के बारे में सोचा भी हो
या ये भी सोचा हो
कोई फ़रक नहीं पड़ता सोचने विचारने में
सब कुछ चल रहा अंदाज से
यही था दोनों के बीच मैत्री भाव
जो लम्बे समय से
लगातार एक सरीखा चल रहा है

बहस के लिए
चुनौतियाँ चकित हैं, प्रार्थनाएँ पराजित
यात्राएँ अधूरी हैं
धूल की तरह उड़ता समय
जम रहा है अन्तर्मन पर

मैत्री भाव दर्शाता है
दाँव पर समय लगाकर
सब कुछ बदल जायेगा

सच मानने वाले
सच के नज़दीक पहुँचकर
अचरज के वंचित इंतज़ार में
धीरज के साथ हाँफ रहे हैं

अपना मौन उजियाला

लोगों ने सोया जीवन
जीवन भर की जय पराजय, स्मृतियाँ
एकांत विहीन बदलते अतीत के रूपाकार
और भी कई चीज़ें
जो पास आते-आते देखते-देखते
इतनी दूर चली गई कि उनका आभास भी समा गया
कहाँ,
पता नहीं
और जो पास हो कर भी नहीं रही इतनी पास
जिनमें झाँक कर
देख पाते
अपना मौन उजियाला !

सब कुछ है के बीच
कुछ भी नहीं है की फाँक
सदा से विभक्त कर रही है
तोड़ती रही है पहचान
आनंद के मूल्यवान क्षण
क्षीण होते चले गये हैं
हमें याद नहीं आता
हमें जो याद आता है

tharahkardu.in

वह रह-रहकर तड़प-तड़प कर
अर्थवान होते होते रह जाता है

जीवन में सदैव कौतुहल के साथ
वापसी होती है
ख़ुशी और उससे वंचित समय
सुरक्षित चिंताओं के दोनों छोरों पर बने
आने जाने के पुल से
ज़्यादातर आते जाते हैं

शायद या कमोवेश
परंपरा का संतुलित रास्ता
टूटता-जुड़ता रहा है इसी तरह

शैलचित्र

पुरातन शैल चित्रों की
धुँधली गहरी आलोकित उत्कीर्ण आकृतियाँ
पत्थरों की आत्मा में
आखेट करती
भूली बिसरी स्मृतियों में मंत्रमुग्ध
अपने पैतृक विस्मय में घुलमिल
दुर्गम रहस्य खोलती
डूबती उतराती हैं

युगयुगांत
अपने में नितांत
विविध रंगों के मिथकीय रूपाकार
संवेगों की अभेद्य संपदा में

कितने उल्कापात!
कितने साहस
कितने एकांत के स्पर्श लिए

आकाश को
पृथ्वी से पाट देती है

एक बार फिर आकाश

समय की कोशिकाओं में
छिप कर बैठी हैं आहटें
बेशुमार गुस्सा फैल रहा है
जंगली घास की तरह
उठ रही हैं दीवारें
भीतरी पठारों पर अंतहीन!

इतिहास की आँखों में
टूटते तारे की बुझती लौ कौंधती है
तड़क कर बिजली
समा जाती है
युवा पेड़ की देह में

काँपते सुनसान उदास चेहरे
निर्वासित उम्मीद को जोड़ने की कोशिश में
अँधेरे के दूसरे छोर पर बैठे डूबे
हवाएँ
सार्वजनिक चट्टानों से टकराती
खोजती है प्राण वायु
हाँफता हताश
बेतहाशा सन्नाटा
घर की ख़ामोशी के परदे खींचकर
बेख़ौफ़ सड़क पर घूमता है

गिर रही है
यातनामय सड़क
बर्फ़ की तरह
थर थर काँपते दृश्य
तम तमा कर आँखों में डूब कर

आत्मा में उतरते हैं
अवसन्न पृथ्वी
वर्णमाला में कुछ खोजती कुछ पुकारती कुछ चकित होती
अनिश्चित प्रतिबिंब में
निश्चय को बिखरते देखती है

चारों दिशाओं की टूटी खिड़कियों में
उखड़ी साँसों का आकाश
अवसान के पहले
एक बार फिर आकाश बन जाना चाहता है

[57, मंगलवारा, पिपरिया, म. प्र.-461775]

तीन कविताएँ

☐ श्रीवत्स

लाल घोड़ा

खबर आई है
उनके द्वारा
उन्हीं की
वे खुश हैं लाल घोड़ा
जिसे वे पहले मार चुके थे
दफना कर जिसका
फातिहा पढ़ चुके थे
अब फिर मारा गया है

मारा गया मरा हुआ लाल घोड़ा
जी हाँ ! वो यहाँ मरा वहाँ मरा
कहाँ-कहाँ नहीं मरा
वे उल्लसित हैं
छिपाए नहीं छिपती खुशी

बहुत हुड़दंग मचाए था
जी! सवारों ने ही मारा
एक साथ मारा
अपना अपना लाल घोड़ा

नस्ल ही चूक गयी
हम कहते न थे पहले

वे जानते हैं पर
यही भय
कवच ओढ़कर हुंकार भरता है
मारा-गया मारा-गया
लाल घोड़ा

वे जानते हैं
लाल घोड़ा आ ही जाता है
सरपट-सरपट
जहाँ भूख है
जन इच्छाओं, आकांक्षाओं का
विशाल सागर है
खिली हुई धूप की दस्तक है
बच्चों की किलकारियाँ हैं

वे जानते हैं
लाल घोड़ा जहाँ जाता है
हरी-हरी दूब से खिल उठती हैं
वियाबान चरागाहें

वे जानते हैं
इसीलिए डरते हैं
और खबर भेजते हैं—
मारा गया मारा गया
लाल घोड़ा

चाँद से

बचपन में गोल-गोल लुढ़कती गेंद थे तुम
घुप्प अंधेरे में
खिड़की से होकर
बिस्तर पर लुढ़क आती गेंद
बड़े होकर कुत्तों को भोंकते पाया तुम पर
आधी रोटी की तरह
दूर अटके दिखे तुम!

तल्खियों में दिन

उन अच्छे दिनों के लिए
जिनका अच्छा होना
इसी पर मुनस्सर है
कि वे कभी नहीं आते
जो आते हैं
या हम में से होकर गुज़रते हैं
उन्हें हम तल्खियों में याद करते हैं
तल्खियाँ जो अनुष्ठानों की तरह
दिक्काल निरपेक्ष हो जाती हैं
दिन घुल जाते हैं
जीवन घुलता रहता है

[योल बाज़ार योल कैंट, धर्मशाला, हि0 प्र0]

पिता और संसार : कुछ कविताएँ

□ प्रफुल्ल कुमार

एक

पिता ही हो सकते थे
क्रूर और कामकाजी
सिर्फ पिता ही जान सकते थे
कि यह है निर्ममता
संसार में पता नहीं
किस किस ने झेले होंगे उनके प्रहार
पर संसार के सारे प्रहार
अपनी पीठ पर झेलते
पिता लौटते हैं
बच्चों की दुनिया में

बच्चों की दुनिया में
संसार से आतंकित रहते हैं पिता !

दो

पिता आते हैं फुर्सत में
कि ऐन वक्त चली जाती है माँ
धीरे धीरे जान पाते हैं पिता
कि फुर्सत में आना
बच्चों की दुनिया में
फालतू हो जाना है

tharahkardu.in

फैलता रहता है बच्चों का संसार
सिमटते रहते हैं पिता

बच्चों के संसार में
जब तब दुखता है पिता का मन
दुखता है, पर खुलता नहीं
जब तब लगती है ठेस
याद आती है माँ
घर के एक कोने में
केवल माँ से बतियाते हैं पिता
अक्सर कहते—
यही होता है
यही होता है संसार
और खुश्क आँखों से रोते हैं पिता !

तीन

माली की आँखों में
निरन्तर रहती थी पौध
पेड़ों की कल्पना
छाँव और फल की कल्पना थी
पेड़ों की धमनियों में बहता रहा
पिता का रक्त
और जड़ों में
पिता का पसीना

पेड़ों की साँसों में बहती रही
संसार की हवा
पेड़ों पर पड़ती रही
संसार की धूप

पिता जहाँ बैठते हैं
वहाँ से हट कर पड़ती है
पेड़ों की छाँव

पिता के हिस्से नहीं आते
पेड़ों के फल।

Hira Lal Thakur
BADAH P.O. MOHAL
KULLU-175126 H.P.

चार

अब जब कि
पक चुके हैं बाल
पका है मोतिया
कदम दो कदम पर
फूलती है सांस
दूर-दराज बसी है बच्चों की दुनिया
वीरान है पिता का संसार

अनवरत सिकुड़ रही है
पिता की काया

पिता के लिए
कहीं भी नहीं है
ऐसा संसार
जिसे लगे हल्का
पिता का भार

पाँच

कहा जाता है बार बार --
पिता
पैंशन भर नहीं हैं
न जायदाद
न वसीयत

पिता चुप लगा जाते हैं
गुस्से में नहीं दहाड़ते
मिथ्याचार, मिथ्याचार !

[हिमाचल पथ परिवहन निगम, शिमला-1]

तीन कविताएँ

❑ ओम प्रकाश वाल्मीकि

उम्मीद

अँधेरे के उत्सव में
बाजीगर के जमूरे की तरह
उलटा लटका हूँ।

भीड़ में खड़े लोग
सिर के बल खड़े होकर
तालियाँ बजा रहे हैं!

मेरे चेहरे पर
रक्त उतर आया है
आँखों में
भर गया है
धूप का रंग!

माँ की सख्त हथेली पर
खिंची धुएँ की लकीर
मेरी चेतना को
पथरीली चट्टानों पर
पटक रही है।

मैं, न ज़मीन पर हूँ
न आकाश में।

कोई इसे ग़लत कहे
या सही
इस वक्त
जंगली घास की तरह है भीड़
जिसकी नियति है झुलसकर कट जाना।

कहीं कोई
अँधेरे की सत्ता के विरुद्ध नहीं है
अँधेरे की गोद में छिपकर
सो गये हैं रोशनी के सारे सपने।

सिमटकर छोटी हो गयी हैं
देश की नदियाँ
चमचमाती सड़कों पर
रंग-बिरंगी बत्तियां
जल रही हैं
अँधेरे के अभिवादन में
उठ रहे हैं
साफ-सुथरे शिथिल हाथ।

शहर के बीचों-बीच
इस उम्मीद में खड़ा हूँ
कि भीड़ से कोई एक
बाहर आयेगा
और सूर्य की आग से
जलाकर अपनी मशाल
कर देगा अँधेरे का पटाक्षेप।

उदासी

चिड़िया उदास है—
जंगल के खालीपन पर

बच्चे उदास हैं—
भव्य अट्टालिकाओं के
खिड़की-दरवाजों में
कील की तरह ठुकी
चिड़ियों की उदासी पर

खेत उदास हैं—
फसल कट जाने के बाद

सिर पर तसला रखे हरिया
चढ़-उतर रहा है
एक-एक सीढ़ी
ऊँची उठती दीवार पर

लड़की उदास है—
कब तक छिपाकर रखेगी अपनी जन्म तिथि

किराये के हाथ
लिख रहे हैं दीवारों पर—
'उदास होना
भारतीयता के ख़िलाफ़ है'!

अकाल

जब भूख से लड़ने के लिए
हम चला रहे थे खेत में हल
दूर-दूर तक
आकाश में
बादल का कोई भी टुकड़ा नहीं था
सूख रही थी नदी चुपचाप।

पहाड़ों में सुराख करके
खोखला कर देने की क्रिया
आकाश में उड़ती चील ने देखी

और बाज को बताया
बाज ने कबूतर को
कबूतर ने बिल्ली को
बिल्ली ने कटोरे में रखे दूध को देखा
दूध कुनमुनाया
बछड़ा रंभाया
गाय ने बैल को बताया।

बैल कंधे पर जुआ थामे
सिर झुकाये नाप रहा था
ताज़ा हल चले खेत की गहरायी

बैल का सिर हिला
गले में बंधी घंटियाँ खनकीं
बीज बोते हाथ ठिठके
और आँख के कोर से
एक बूँद ढुलक कर
नम कर गयी ज़मीन को।

आकाश अब भी खाली था।

[4 न्यू रोड़ स्ट्रीट, कलालों वाली गली, देहरादून (उ. प्र.) 248001]

पाँच कविताएँ

❑ श्रीकांत

कितना जिया हूँ

कितना भरा
कितना खाली
निजी वक्त का छोटा टुकड़ा
जिसमें मैं दुबका बैठा हूँ

केवल मैं हूँ
अपनी ही परतों के नीचे
अपनी ही हदों के पार

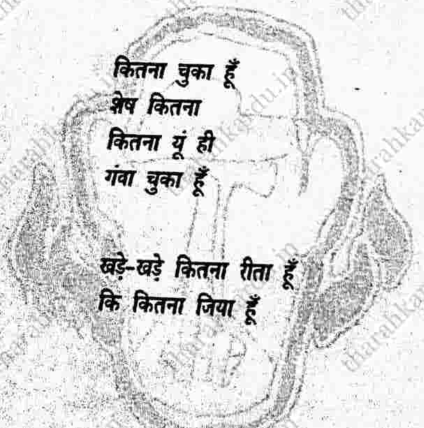

कितना चुका हूँ
शेष कितना
कितना यूं ही
गंवा चुका हूँ

खड़े-खड़े कितना रीता हूँ
कि कितना जिया हूँ

tharahkardu.in

दरअसल

अगर कहीं कुछ नष्ट हुआ तो
इसमें दोष तुम्हारा कैसे?
तुम तो
देख रहे थे कहीं और

जो घटा
वह सत्य नहीं था
या फिर
पूरा सत्य नहीं था
अर्द्धसत्य का साक्ष्य असंभव

दर असल
तुम थे
पर तुम थे नहीं

उम्मीदों की धरती

संघातों से फूटते संभ्रम
संघात
शरीर से शरीर का हो
सीमाओं से सीमाओं का

संभ्रम. . . .
जैसे कोई है हमारे साथ
हमारे सामने

संघात . . . .
अपने पीछे छोड़ने हैं
विस्फोटों की अंतहीन श्रृंखला
संदेहों का गरम-गरम लावा
या फिर
खनिजों और उम्मीदों की
विस्तृत धरती

शरीफ आदमी

शरीफ आदमी
रोज डांटता है बच्चों को
कॉमिक्स पढ़ने के लिए
देता है सीख
रेडियो से सीखो सही उच्चारण
अखबारों से अनुमान
दूरदर्शन से संस्कृति
सत्ता से संयम
और
संसद से शिष्टाचार

दुष्यंत की दहकती आँखों से
उठते धुएँ से बेखबर
पैरों से ढक लेता है,
कलेजे की टीस,

घर में रोज इकट्ठी करता है,
ढेर सारी सडांध
कानों से देखता है
आँखों से सूँघता है,
कोहनियों से चलता है

सवाल

बेटी है मां है पत्नी है
कुलटा है छलना है
देवी है दानवी है
बराबर है पुरुष के
सवाल ये है
कि औरत क्यों नहीं है?
समुद्र की सतह से

उछलकर सुबह-शाम
किनारे क्यों बन जाते हैं सवाल
कहीं चन्द्रमा की तो नहीं है
कोई चाल?

इस वातानुकूलित
कक्ष की हवा ठंडी है
सवाल ये है
कि ये ताज़ा क्यों नहीं है?

समीक्षा

गंगाप्रसाद विमल की कविताएँ

☐ ओम निश्चल

आज की कविता जीवन के यथार्थ रंगों से रेखांकित है। वैचारिक स्तर पर कवियों के सोच का धरातल कुछ भी हो, कविता में जीवन को उभारने में कवियों ने अपनी प्रगतिशील एवं कार्यव्यापी दृष्टि का परिचय दिया है। 'अकविता' आंदोलन से उभरे गंगा प्रसाद विमल अपने समूह के सुलझे हुए कवि माने जाते रहे हैं। परन्तु अकविता के कवियों को मिले अपयश के कारण विमल के कृतित्व की निरन्तर उपेक्षा की जाती रही है। अकविता के कई कवियों के लेखन में पहले की अपेक्षा काफी बदलाव आया है। उदाहरणतः शुरुआत में अकविता-समूह में परिगणित किये जाने वाले गंगा प्रसाद विमल, चंद्रकांत देवताले तथा राजीव सक्सेना की कविताओं में अब बिल्कुल अलग काव्य-परिवेश और चिंतन दृष्टिगत होता है। गंगा प्रसाद विमल की विचार भूमि में था कि कविता के रचाव में आशातीत तबदीली उनकी कविता के सुधर स्थापत्य का परिचायक है।

बरसों बाद प्रकाशित विमल के नये काव्यसंग्रह **'इतना कुछ'** की कविताएं इस आरोप को झुठलाती हैं कि वे अकवितावादी हैं। इन कविताओं में 'अकविता' की छाया दूर-दूर तक नहीं है। इनमें पहाड़ के जीवंत और संघर्षरत मनुष्य की धड़कन मौजूद है। विमल कोमल संवेदना के कवि हैं। मनुष्य से उनकी कविता का रिश्ता बेहद करीबी है। प्रकृति के भूदृश्यों से गुजरते हुए वे पार्थिव प्रश्नों से आँख नही चुराते, बल्कि ईमानदारी से उनकी टोह लेते हैं। आज की कविता के समानांतर रखते हुए यह निश्चय कहा जा सकता है कि विमल की ये कविताएं किसी आपद्धर्म का परिणाम नहीं हैं, बल्कि उस मौलिक रचना-प्रक्रिया का प्रतिफलन हैं, जिसकी पृष्ठभूमि विचार और अनुभूति, संस्कृति और मिथक के विरल साहचर्य से संवलित है।

विमल की कविताएँ प्रायः व्यवस्था से खिन्न दीख पड़ने वाले कवि की सोच आस्फालित नहीं हुई है, बल्कि इस व्यवस्था में ही ग्राह्य जीवनधर्मी, सौन्दर्यबोधी बिम्बों से उन्होंने ये कविताएं रची हैं। इन्हें रचते हुए शायद कवि की इच्छा जीवन की हरीतिमा को बचाने की रही है, जिसे आज की दुनियावी विरसता झुलसा रही है।

इतने वर्तमानों के बीच
युद्ध आए। विपदाएं। हताशाएं
प्रतीक्षारत रहा
रहूँगा जब तक देख पाऊँगा।
अपनी आत्मा के दर्पण में
वह सुरक्षित-सा भविष्य

स्मृति और कल्पना से भी परे
वह एक सोचा हुआ भविष्य
अब तक आया ही नहीं। (भविष्यः पृष्ठ 40)

उनकी कविताओं में एक सचेत कवि का स्पर्श झलकता है। अपने समकालीनों में गंगा प्रसाद विमल इसीलिए अलग दिखते हैं कि वे दुनिया को विश्वसनीय दृष्टि से देखते हैं। उनका झुकाव पहाड़, नदी, चुपचाप से लगने वाले लोगों, कामगरों तथा लाल इबारत पढ़ने वाले किसानों की तरफ आकस्मिक नहीं है। यह उस वैचारिक द्वन्द्व का प्रतिफलन है जिसने उन्हें इस दुनिया के कठिन जीवन-परिवेश एवं ढंके-मुंदे यथार्थ से जुड़ने का अवसर दिया है:

दृश्यों में झलकेगी सदियों की दहकन
आँखों में साठ दिनों की प्रतीक्षा
जब पकेंगे धान भरेंगे खलिहान
सुनहले हाथों में खनकेगा
कोठार से अन्न निकालते
परिश्रम का अर्थ।
अभी तो मिट्टी सने हाथों में
प्रतीक्षा है, मिट्टी में राग·
धान रोपते हाथ
रोपते हैं भविष्य। (धान रोपते हाथ, पृष्ठ 15)

प्रकृति से अपने को जोड़ते हुए, जहाँ प्रायः कवि उबाऊ और विरस चित्रण से कविता को अलंकृत बनाने का यत्न करते हैं, विमल ने उसके सहकार को साफगोई और अपनेपन के साथ सहेजा है। इन कविताओं के परिचय के रूप में प्रस्तुत फ्लैप की टिप्पणी को दृष्टिगत रखें कि 'कविताएं कुछ भी न देती हों पर वे अगर मनुष्य को उसके खोये संगीत से जोड़ देती हैं तो शब्दों और अर्थों से परे अपने अस्तित्व का विश्वास देती हैं।' तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि इन कविताओं में प्रकृति के प्रति मानवीय लगाव को आत्मीयता से व्यक्त किया गया है। विमल की इन कविताओं में ग्रामीण स्मृतियों की एक छाया दृष्टिगत होती है। वह छाया जिसे वह छोड़कर शहर पहुँचे हैं, उनकी स्मृति में तरोताजा होकर कविता में प्रकट हुई है:

शहर में मेरे साथ ही
बहुत पहले चला आया था
अदृश्य-सा मेरा समूचा गाँव
चले आये थे मरे साथ
मेरे पेड़
फूल-पत्तियाँ, खेत, खलिहान
यहाँ तक कि जंगल और बियाबान

चले आये थे खामोश
वे सब रहते हैं मेरे साथ ही
खाँसते बूढ़े प्रतीक्षारत विवाहिताएं
निस्पृह खेतिहर, अबोध बच्चे
जहाँ भी जाता हूँ हाथ पकड़े ले जाता हूँ उन्हें
उनके उत्सव, झण्डे, मंदिरों की ओर लपकते मन
खेतों में सुस्ताती वृक्ष-छायाएं
पके फलों की लदी टहनियाँ
इधर-उधर फुदकती चिड़ियाँ
और जब भी वक्त मिलता है, कुर्सी के हत्थे पर सिर टिका
उनसे बतियाता हूँ दिवास्वप्नों में (स्मृति की खोह, पृष्ठ 73)

विमल की कविताओं में पहाड़, पेड़, हिमालय, सीढ़ीदार खेतों, हिमवर्ती कुहासे, शिखरों, चट्टानों, हिमसरोवर, श्वेत श्रृंगो, घाटियों, वनों, ढलानों, बर्फ लदी चोटियों, कलकल करते झरनों, गुफाओं के जो अनगिनत बिम्ब उभरे हैं वे कविताओं में स्थानीयता के रंगों का सृजन करते हैं। अपनी ज़मीन की धड़कन को विमल ने अपनी कविताओं में जिस तरह महसूस किया है, वह इस बात का परिचायक है कि कवि में अपने परिवेश के प्रति आत्मीय लगाव है। वह शहरी परिवेश में रहकर भी अपनी जड़ों के करीब है। शायद इन्हीं प्रतीकों, बिम्बों के माध्यम से कवि उस कथ्य तक पहुँचना चाहता है जो उसकी कविता में अभी भी अनकहा है, शब्द और अर्थ के बीच अदृश्यअभूर्त अहसासों को खोजना चाहता है जो अभी भी अनखोजा रह गया है:

इतना कुछ कहा गया है अब तक
फिर भी कुछ है जो नहीं कहा गया
मैं वही कहना चाहता हूँ (इतना कुछ, पृष्ठ 59)

गंगा प्रसाद विमल ने इन कविताओं में जो कहना चाहा है, वह उनके समकालीनों के कथ्य से बहुत भिन्न नहीं है, फिर भी उनकी कविताओं में किसी विचारवाद की अनावश्यक घुसपैठ नहीं हुई है। कविता में अनेक सहज-सुलभ बिम्बों से उन्होंने अप्रत्याशित सौंदर्य की सृष्टि की है। सौंदर्य के बखान में चपल विमल के उपमान उनकी अपूर्व कला-दृष्टि का परिचय देते हैं। बेहद सुकोमल प्रतीकों से काम लेते हुए वे दूब की उस छोटी सी लहक तक पहुँच गये हैं जहाँ खुशगवार हवा दूर्वा के शिखरों में ताज़गी भर देती है। प्रकृति के उद्याम आकर्षण को विमल ने बिना इस बात की चिंता किये अपने काव्यानुभवों में समेटा है कि इससे वे प्रकृति की गोद में डूबे रोमानी कवियों की श्रेणी में परिगणित कर लिये जाएंगे। प्रकृति से उन्होंने अक्सर सामाजिक अन्तर्विरोधों को प्रकाशित करना चाहा है। इस युगीन सच को उनके शब्द निःसंदेह चरितार्थ करते हैं कि प्यार, हमदर्दी और अहिंसा सिर्फ पवित्र ग्रंथों में लिखे शब्द भर हैं। बाहर नफरत की दीवार-सी खड़ी हो गयी है। आदमी अपनी ही बनायी व्यवस्थाओं, कानूनों और सुरक्षा-कवच का शिकार है जबकि खुले आकाश के नीचे खड़े पेड़ कितने निश्चिन्त हैं। उनके पास न ग्रंथ हैं, न कानून, न सुरक्षा का ख्याल। एक अर्थ भेदी व्यंजना इन पंक्तियों में निहित है। हिंसा, डर, असुरक्षा के स्थायी भाव से घिरा आज का मनुष्य कितनो असहाय है, विमल की कविता 'आखेट'

इस दुरुह संकेत को मार्मिकता से टटोलती है। कवि की कोमल मानवीय संवेदना यह देखकर आहत होती है कि जिस आधार से चिपका है वह—उसका व्यापार करते हैं लोग शहर में/न उन्हें सताता है पाप-पुण्य/न काटती है ग्लानि . . . . उसे याद आता है गाँव घर का अँधेरा/कितना आत्मीय प्राप्त था/विलुप्त है जो इस चमचमाती रोशनी में/ रोशनी के आखेट का नहीं है उसे ज्ञान/न मान है कि वही तो शिकार है/ इस पूरे खेल में . . . . (पृष्ठ 62)

शोषण के व्यापकतंत्र को उजागर करती ये पंक्तियाँ विमल की विचारधारात्मक समझ का आभास देती हैं। अपने सफल काव्य-विन्यास से वे इस निरंकुश लोकतंत्र के फलितार्थ की ओर संकेत करते हैं जहाँ आम नागरिक पूंजीवादी कुचक्र के लुभावने आभिजात्य का शिकार है तथा अपने ही दुःखों के कारणों को जान सकने में असमर्थ है। विमल में प्रगतिशील संवेदना का यह विकास आकस्मिक नहीं है। इस मुकाम तक पहुँचने में उन्हें 'अकविता' की असामाजिक अभिवृत्तियों के घेरे से बाहर आने के लिए लंबा रचनात्मक सफर तय करना पड़ा है। 'अकविता' को लेकर उनके ही भीतर पैदा होती असहमति के स्वर को ऐसी रचनाओं में साफ सुना जा सकता है। आज यह सोचकर ताज्जुब होता है कि जब 'अकविता' को लेकर उटपटांग परिभाषाएं गढ़ी जा रही थीं; उसे कैबरे पसंद, फैशनपरस्त कवियों की कविता के रूप में वर्गीकृत किया जा रहा था, विमल जैसे सुलझे कवि अपने विचारों की दुनिया में भूमिगत थे। 'भविष्य के लोगों' शीर्षक कविता में जैसे यही पश्चाताप मुखर हुआ है:

तुम जब हत्यारों की सूची बनाओगे
तो मुझे मत भूलना
न सही मैंने हाथों में बंदूक नहीं पकड़ी
पर मैं चुप था अन्याय के वक्त
कहवाघरों में लतीफेबाजों के बीच
जो बड़ बोले थे
उनमें एक मैं भी था। (पृष्ठ 51)

यहाँ कवि की ईमानदार स्वीकृति पश्चाताप के पलड़े से कहीं अधिक भारी है। विमल में कविता के जिस नये संस्कार का पदार्पण हुआ है वह ग्राम्य, देशज स्मृतियों, कल्पनाओं और सौंदर्य बोध से संवलित है। 'स्मृति के खोह' की पंक्तियाँ हैं: 'सोता है गाँव मेरी विस्मृति में/ जागता है स्मृति में। रात-रात उनके साथ।' पहाड़ का ग्राम्यपरिवेश अपनी विशिष्टताओं के साथ कवि की स्मृति में अंकित है। वह शहर आकर भी गाँव की यादों को अपनी स्मृति में जगाये रहना चाहता है। गाँव-गिरांव से शहर आ बसे अनेक कवियों में अपने पूर्व परिवेश के प्रति यह सम्मोहन पाया जाता है। शहर आकर तीज-त्योहार, गाँव-देहात की प्रतीति तिरोहित हो जाती है। सिर्फ उसकी स्मृतिभर रह जाती है। पर गंगा प्रसाद विमल के यहाँ यह स्मृति भी छिन्न-भिन्न को चुकी है। 'अब न वह सपने में आता है न स्मृति में। तुमने कहीं देखा हो/ तो बस एक बार ले आना मुझ तक उसे/ ओंकार की अनंत यात्रा से पहले/ मैं जी भर कर चूमना चाहता हूँ/ आभार में/ अपने उस गाँव को।' (पृष्ठ 79)

गंगा प्रसाद विमल की स्मृतियों में रचा-बसा पहाड़ों में स्थित गाँव-गिरांव का प्रकृत परिवेश, उनकी कविताओं में अभिव्यक्ति का आदिम-स्रोत बन कर फूटा है। उनकी दृष्टि महानगरीय मुद्राओं से हटकर पर्वतीय प्रान्तर,

सीढ़ीदार खेतों, झरनों, घाटियों उपत्यकाओं, चीड़वृक्षों, के बीच सांस लेते जीवन की ओर गयी है। उन्होंने पाया है कि 'किसानों की आँखें, घासलाती औरतों के पाँव, पानी उलीचते हाथ, मीलों-मील चलते कदम सब कुछ कह देते हैं, जो शायद सरकारी खबरें भी नहीं कह सकतीं, विमल ने हालांकि पहाड़ के ग्राम्य जीवन की छवियों को अपनी कविताओं में भरसक अंकित करना चाहा है परन्तु इन कविताओं से गुरजते हुए कहीं एक ऐसी रिक्तता भी महसूस होती है कि पहाड़ के जन-जीवन को लेकर आज जो कविताएं लिखी जा रही हैं, वहाँ के कठिन जीवन को कविताओं में जिस यथार्थवादी दृष्टि से व्यंजित किया जा रहा है, उसकी तृप्तिदायी झलक इन कविताओं में नहीं मिल पाती। क्या ऐसा इसलिए तो नहीं है कि पहाड़ को अक्सर थकान मिटाने, तकरीह करने की सुरम्य वादियों के रूप में चित्रित किया जाता रहा है तथा यही पर्यटनोन्मुख दृष्टि पहाड़ के अंतरंग जीवन को चित्रित कर पाने में बाधक रही है। विमल में निश्चिय ही अपार काव्य-क्षमता है और हम उम्मीद करते हैं कि वे अगले संग्रहों में पहाड़ के संघर्षशील जीवन की अनेक अंतरंग और विरल अभिव्यंजनाओं के साथ सामने आएंगे और वस्तुतः मनुष्य की सांस्कृति विरासत की .उस सामुदायिक दृष्टि का आभास कराएंगे जिसका उल्लेख फ्लैप में उनकी कविताओं का परिचय देते हुऐ किया गया है। ❑

पुस्तक :

इतना कुछ; गंगा प्रसाद विमल; प्रकाशकः किताब घर, 24/4866, शीलतारा हाउस अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करणः 1990, *मूल्य : पचास रुपये।*

नयी कविता की भूमिका

❑ डॉ. ओम् प्रकाश सारस्वत

हिन्दी के मर्मज्ञ समीक्षक डॉ. प्रेम शंकर द्वारा रचित 'नयी कविता की भूमिका' पुस्तक नयी हिन्दी कविता को वृहन्तर भूमिका पर समझने की पीठिका तैयार करती है। नयी कविता को उसके पूर्व-उत्तरवर्त्ती आयामों के मध्य समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में परखने का समीक्षक का आग्रह समीचीन है। कविता को उसकी भाषिक संरचना और छन्दः सरणि से भिन्न समाजशास्त्र के धरातल पर रखकर इधर कुछ मर्मज्ञों द्वारा एक नये ढंग से विवेचित करने की कोशिश आरंभ हुई है तथा यह कोशिश जायज़ भी है क्योंकि जीवन-यथार्थ को समग्रता में देखने के लिए उसके समाजशास्त्र की तह तक जाना ज़रुरी हो गया है। रचना के समाजिक सरोकार तथा उसकी प्रासंगिकता को, ऐसा अध्ययन एक अलग पहचान देता है।

कोई भी रचना समाज के गर्भ से जन्म लेकर उसके स्तन्य से पुष्ट होती है। रचना में व्यक्ति के निजी अनुभवी अन्ततः समाज के ही अनुभव हैं अतः रचना में समाज की स्वीकृति और निषेध की उभयात्मक प्रक्रिया रहती है। इस संदर्भ में कवि मुक्तिबोध तथा उस सरीखे अन्य कवियों का काव्य इसका उदाहरण है। प्राचीन हिन्दी काव्य के आध्यात्मिक पक्ष के मुकाबिले नयी कविता का समाजशास्त्रीय संदर्भ में यह 'मानुष पक्ष' विचारणीय है। डॉ. प्रेम शंकर ने इस पुस्तक में 'कविता का समाजशास्त्र- इस अध्याय में इसी तथ्य की ओर अधिक संकेत दिया है।

इस पुस्तक के अन्य अध्यायों में हिन्दी स्वच्छन्दता वाद का रूपान्तरण किस प्रकार नये राज्य में हुआ और नये काव्य ने कैसे जीवन और यथार्थ को अपने कथ्य का विषय बनाया, सतर्क विवेचित है। पुस्तक के अन्तिम अध्याय में समीक्षक ने समकालीन कविता संसार की सामर्थ्य को कुछ चर्चित कवियों के उदारहणों द्वारा प्रतिपादित करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि समकालीन कविता सपाट बयानी से सरलीकृत हो जाने के खतरों से बचती हुई भाषा को जीवन से सीधे पाते हुए, अपने समय के यथार्थ से सीधी मुठभेड़ करती हुई अपनी सार्थकता सिद्ध कर रही है। अड़सठ पृष्ठों की इस समीक्षा पुस्तक का प्रत्येक अध्याय स्वतंत्र-पुस्तक के बीज-बिन्दु समेटे हुए है।

अतीत के हंसः मैथिलीशरण गुप्त

हिन्दी-आलोचना-संसार का यह ध्रुवसत्य है कि कवि मैथिलीशरण गुप्त को शोध ने एक खास ढर्रे में डाला,

आधुनिकों ने उन्हें अपने तईं अनुकूल कवि नहीं स्वीकारा तो कुछ ने उन्हें 'वाह'-'वाह' की अतिरंजित शैली में कविता के सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया, पर किसी तटस्थ समीक्षक मूल्यांकन कर्त्ता ने गुप्त का सही आकलन नहीं किया। मैं उस कवि को, जो अपने युग के यथार्थ की अनदेखी नहीं करता, कविता को किसी एक ही सोच के बाड़े में बन्द करके नहीं हांकता तथा काव्य भाषा को यथा संभव व्यंजनागर्भित करके रचना करता है, महत्वपूर्ण मानता हूं। अपने युग की संवेदना एवं उक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में मैथिलीशरण गुप्त विचारणीय कवि ठहरते हैं। अतीत के हंसः मैथिलीशरण गुप्त नामक पुस्तक में समीक्षक डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने कवि को अपने युग का एक विवेच्य कवि मानते हुए परवर्त्ती हिन्दी कविता को अपनी समग्रता में समझने के लिए एक ज़रुरी कवि भी माना है। डॉ. श्रोत्रिय की सोच कवि की उपलब्धियों, उसकी अनिवार्यता स्वयं उसकी इयत्ता को उद्घाटित करती है।

अतीत के हंस . . .'पुस्तक में छह अध्याय हैं जिनमें नवशास्त्र बाद के परिप्रेक्ष्य में मैथिलीशरण गुप्त, खड़ी बोली काव्य भाषा, स्त्री संवेदना, कवि की राष्ट्रीयता, अतीत के हंस के अन्तर्गत कवि की श्रेष्ठता तथा पंचवटी पर स्वतंत्ररूप से विचार किया गया है। समीक्षक के पास कवि के विचारों को पकड़ने की सूक्ष्म दृष्टि, भाषा की शक्ति को उद्घाटित करने की सामर्थ्य तथा अपनी बात को प्रस्तावित/स्थापित करने की संतुलित क्षमता है। काव्य के मार्मिक आलोच्य प्रसंगों/संदर्भो को पहचान कर उनकी तमाम संभावनाओं तथा भाषिक गठन की समस्त परिलब्धियों को उजागर कर आलोचक में सच्चे श्रम का मानक रूप प्रस्तुत किया है। कवि मैथिलीशरण गुप्त पर अब तक आरोपित सारे प्रवादों; इतिवृत्तात्मकता, अतीत जीविता, तुकान्तता, सायासता तथा छन्दाग्रह को बिना किसी आग्रह/दुराग्रह के विवेचित करते हुए एक स्वस्थ, तटस्थ मौलिक समीक्षा सरणि को स्थापित करने का जुझारु प्रयास किया है। हिन्दी को ऐसी श्रम संभूत, प्रभूत ठोस सामग्री से भरपूर, दृष्टि सम्पन्न आलोचना पुस्तकों की आवश्यकता है। आशा है हिन्दी के नव्यालोचक ऐसी पुस्तकों को पढ़कर अपने दुराग्रह तजेंगे।

सारलादास कथा-सागर

महाकवि सारलादास उड़िया-साहित्य के सर्वोत्तम सरस्वती-साधक हैं। वे उड़िया भाषा के आदि रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं तथा उन द्वारा रचित महाभारत उड़िया भाषा और साहित्य का उपजीव्य ग्रंथ है। ऋषि व्यासदेव के महाभारत के आधार पर उन्होंने उड़िया भाषा में एक नये ही महाभारत की पुनर्रचना की है जिसमें तत्कालीन उड़िया समाज की जीवन शैली, उसकी मान्यताएँ उसके अभिकल्प (मूल्य) तथा उसके स्वप्न संचित हैं। प्रस्तुत पुस्तक में सारला के काव्य में आईं/रचित कथाओं/उपकथाओं को लेकर गल्पों को संकलित किया गया है। व्यासदेव के महाभारत को स्वीकारते हुए भी, सारलदास ने बड़े-बड़े आख्यानों में अपना स्वातन्त्र्य प्रतिष्ठित किया हैं रचना में उसी स्वतंत्र और वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए (उड़िया संकलन के) कुछ सर्जक साहित्यकारों से इस संकलन हेतु रचनाएं आमंत्रित की गई थी। जिन्होंने उन कथानकों को पुनःरच कर नया रूप प्रदान किया।

सारलादास की रचनाएं भारतीय जीवन दृष्टि को व्यापक स्तर पर समेटने वाली ऐसी कृतियां मानी जाती हैं जो जीवन की आस्था और सहमूल्यों में विश्वास जगाती हैं। प्रस्तुत कथा-सागर में उनके काव्यग्रंथ की कुछ चुनिंदा (24) कथाओं को पुनः लेखनीबद्ध किया गया है। हिन्दी में सारलादास को महाभारत के इन आख्यानों द्वारा परिचित कराने का अच्छा प्रयास है। भारतीय संस्कृति/साहित्य के विशाल वटवृक्ष को उसकी शाखाओं/प्रशाखाओं (भाषाओं/उपभाषाओं) द्वारा पहचानने/परखने की आज गहरी आवश्यकता है। सारलादास कथा-सागर, उड़िया जीवन पद्धति एवं रचनाशैली को हिन्दी में समर्थरूप से प्रस्तुत करने वाली रचना है।

प्रत्यक्षदर्शी : एक प्रतिनायक का जुझारुपन

हिन्दी में मध्यवर्ग पर विपुल साहित्य है। हिन्दी का रचनाकार भी बहुलांशतः मध्य वर्गीय है अतः उसकी दृष्टि ने अपने आस-पास को खूब-देखा-परखा है और उसका अनुभव सम्मत उपयोग भी दिया है। प्रत्यक्ष दर्शी भी एक ऐसी ही रचना है जिसमें जितेन्द्र भाटिया ने अपने समाज के उन तमाम सवालों से जूझने की कोशिश की है जिनसे प्रस्तुत कृति का नायक प्रतिनायक की भूमिका अख्तियार कर समय की विद्रूपताओं से दो-दो हाथ करता है।

चौधरी कनाईलाल के माध्यम से जितेन्द्र भाटिया ने समाज के सत्य को अपनी आंखों के समक्ष घटते देख कर फिर उसे स्वीकारते हुए पुलिस वालों के बीभत्स हथकंडों के आगे झुकने के बदले उनसे जूझने की मुद्रा अपना कर अपराध कानून एवं शासकीय मसखरेपन की दुरभिसंधियों को उजागर किया है। दूसरे शब्दों में समाज के भीषण षड़यन्त्री होते जा रहे चरित्र को लेखक ने बखूबी उघाड़ा है चौधरी कनाईलाल की यह कथा एक ओर निर्दयी-कठोर शासनतंत्र तले दम तोड़ते जीवन-मूल्यों की करुण गाथा को तर्जित करती है तो दूसरी ओर मध्य वर्गीय साहस हीनता को एक जुझारु विकल्प भी उपलब्ध कराती है। लेखक की सामयिक जागरुकता तथा शिल्पगत सामर्थ्य पठनीय है। उपन्यास सामाजिक घटनाओं के प्रत्यक्षदर्शी गवाह की तरह वर्तमान की भीषणता को पाठक रूपी जज के सामने बयान करता है।

पुस्तकें–

1. नयी कविता की भूमिका; लेखक–डा. प्रेम शंकर मूल्य-30 रुपये।
2. अतीत के हंसः मैथिलीशरण गुप्त; लेखक–डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय मूल्य-36
3. सारलादास कथासागर; संपादक–शंकरलाल पुरोहित मूल्य-35
4. प्रत्यक्षदर्शी; लेखक–जितेन्द्र भाटिया मूल्य-28

सभी पुस्तकों के प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली-110002

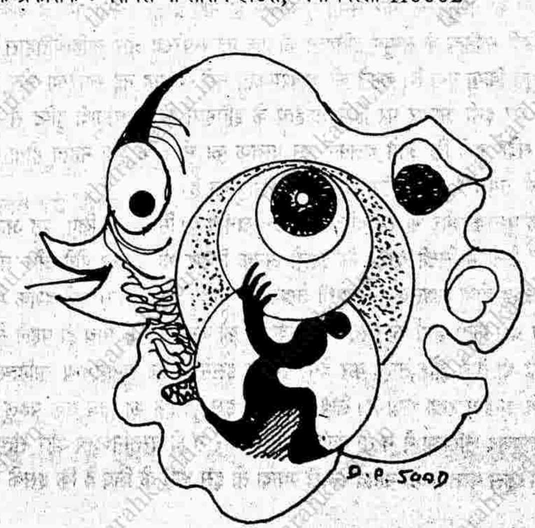

परपंरा का सही मूल्यांकन

❒ देवेन्द्र धर

हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक जगत् में डॉ. रामविलास शर्मा गर्व, गौरव संघर्ष और शिखर उपलब्धियों का नाम है। डॉ. शर्मा के सन्दर्भ में 'साहित्य' शब्द का अर्थ सीमित नहीं है। साहित्य तो उनके विराट बहुविध कृतित्व का मात्र एक अंग है। यह बात दूसरी है कि रामविलास शर्मा और हिंदी साहित्य आज लगभग एक दूसरे के पर्याय बन चुके हैं।

डॉ. गीता शर्मा की बहुचर्चित कृति 'रामविलास शर्मा और परंपरा का मूल्यांकन' में डॉ. रामविलास शर्मा की साहित्य-समालोचना को अध्ययन विशलेषण और मूल्यांकन का विषय बनाया गया है। परंपरा का पुर्न एवं नवीनतम मूल्यांकन प्रस्तुत कर डॉ. गीता शर्मा ने जोखिम भरा और निस्संदेह श्रमसाध्य कार्य किया है। इस कार्य को प्रत्यक्ष रूप से साहित्य के प्रचलित मानदंडों में एक और परिवर्तन के रूप में स्वीकारा जा सकता है। रामविलास शर्मा जैसे युगांतरकारी आलोचक के संदर्भ में यह परिवर्तन और भी सार्थक और सत्य नज़र आता है। इस अत्यंत महत्वपूर्ण आलोचना पुस्तक की सबसे उल्लेखनीय विशेषतया यह है कि उनकी कृतियों के माध्यम से हमें संपूर्ण हिंदी साहित्य का एक नया और सर्वाधिक सुसंगत ढांचा मिलता है। इस पुस्तक में रामविलास शर्मा की साहित्य साधना का वस्तुपरक और समग्र मूल्यांकन ही नहीं प्रस्तुत किया गया है बल्कि डॉ. शर्मा के कृतित्व के माध्यम से हिंदी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास की एक नई रूपरेखा और साहित्येतिहास लेखन का एक नया दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह नई रूपरेखा और नया दृष्टिकोण वस्तुतः मार्क्सवादी है और इसी आधार पर हिंदी साहित्य के इतिहास की मार्क्सवादी दृष्टि से प्रस्तुत की गई रूपरेखा ही है। इसमें संदेह नहीं कि आगे चलकर इस पुस्तक का भी ठीक वही महत्व होगा जो रामविलास शर्मा की कृति "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना" का है।

गीता शर्मा की यह पुस्तक और भी कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है। मिसाल के लिए, यह आलोचना पुस्तक एक ऐसी "पोलेमिकल" शैली में लिखी गई है कि इससे अनेक विवाद भी उत्पन्न होंगे और संभवतः वैसे ही वैचारिक संघर्ष की शुरुआत होगी (खासकर वामपंथी लेखकों के बीच) जैसा पचास वाले दशक में डॉ. शर्मा की उपर्युक्त पुस्तक से हुआ था। गीता शर्मा की पुस्तक नए विवादों को जन्म देने के साथ ही पहले से जारी विवादों और वैचारिक संघर्षों को भी तेज़ और ताज़ा कर देग, क्योंकि इसमें अनेक सुनामधन्य साहित्याचार्यों, पंडितों और आलोचकों के आगे आईना रखा गया है। लेकिन यह तो इस पुस्तक का मात्र एक पहलू ही है। अपनी "पोलेमिकल" शैली के बावजूद लेखिका ने न तो कहीं खोया है और न ही वस्तुनिष्ठता और सत्यपरायणता का अपना साहसपूर्ण संकल्प। इस पुस्तक का महत्व सबसे ज्यादा तो इस बात के लिए है कि इसके माध्यम से हम

रामविलास शर्मा की आलोचना पद्धति की बारीकियों से परिचित होते हैं। साथ ही, हिन्दी जाति के निर्माण की ऐतिहासिक प्रक्रिया, उसके साहित्य की उदात्त मानवतावादी और प्रगतिशील परम्परा तथा उसके अछूते कलात्मक पक्षों और विचारधारात्मक अवदान से भी हमारा गहरा साक्षात्कार होता है। यह पुस्तक हमें एक ऐसी मर्मभेदी सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि का कलात्मक उन्मेष प्रदान करती है कि हम उसके आलोक में अपने अब तक के समूचे साहित्य को, विशिष्ट साहित्यकारों को तथा उनके युग-विशेष और प्रवृत्तियों को समझकर साहित्येतिहास की सही दिशा और विकास के निश्चित बिन्दु पहचान सकें।

पुस्तक में कुल पन्द्रह अध्याय हैं। पहला अध्याय मुख्यतः सैद्धांतिक है जिसमें परम्परा के मूल्यांकन की विभिन्न दृष्टियों और पद्धतियों का विवेचन करते हुए रामविलास शर्मा की दृष्टि-प्रणाली का परिचय दिया गया है। गीता शर्मा के अनुसार डॉ. शर्मा के साहित्य सिद्धांतों का निचोड़ यह है कि महान विचारों, गम्भीर भावों और सूक्ष्म इन्द्रिय बोध के समन्वय और संतुलन से ही साहित्य के प्रभाव तथा कलात्मक सौंदर्य में वृद्धि होती है, जबकि इनमें अंतर्विरोध और असंतुलन से क्षति ही होती है। इसी तरह वर्ग-विभक्त समाज में महान कलाकारों के वैचारिक अंतर्विरोध उनकी भावधारा और कला में भी व्यक्त होते हैं, किन्तु समर्थ रचनाकार अपने इन अंतर्विरोधों पर काबू पाकर अपने साहित्य में उन्हें हल करने का सृजनात्मक प्रयास भी करते हैं। डॉ. शर्मा ने इसी दृष्टि से हमारी समूची परम्परा का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करके हमें उसके प्रगतिशील तत्वों से परिचित कराया है तथा गीता शर्मा की समीक्षित पुस्तक के माध्यम से हमें ये तत्व समग्रतः एक जगह और एक साथ उपलब्ध होते हैं।

लेखिका ने ब्रेख्त के "ऐलिएनेशन इफेक्ट" का परिचय देते हुए अतीत से पार्थक्य बनाए रखने तथा वाल्टर बेंजामिन के हवाले से परम्परा के प्रगतिशील तत्वों की रक्षा में सचेत विचारधारात्मक संघर्ष पर बल देते हुए यह ठीक ही लिखा है कि डॉ. शर्मा ने हमारी परम्परा का "जैसा सूक्ष्म और विशद विश्लेषण किया है वह इतना भरा-पूरा और सुसंगत मूल्यांकन है कि उनके बाद आज तक कोई भी अन्य व्यक्ति न तो उनके निष्कर्षों को चुनौती दे सका है और न ही इस दिशा में कोई विशेष उल्लेखनीय योगदान ही कर सका है।" जाहिर है कि "परपंरा का मूल्यांकन" होने की वजह से ही लेखिका की विवेचन-सीमा में आजादी के बाद के दौर के साहित्य का मूल्यांकन नहीं आया है जिसके संबंध में डॉ. शर्मा की मान्यताओं को लेकर खासा विवाद है। विशेष रूप से यशपाल, शमशेर और मुक्तिबोध के मूल्यांकन को लेकर। फिर भी गदर की परंपरा, हिन्दी नवजागरण की अवधारणा, भारतेन्दु, द्विवेदीजी, शुक्लजी, प्रेमचन्द, निराला और हिन्दी साहित्य के इतिहास की समस्याओं को लेकर गीता शर्मा ने समूचे विवादों का परिचय देते हुए "पोलेमिकल" शैली में अपनी दिलचस्प टिप्पणियों के साथ जिस तरह से डॉ. शर्मा की मान्यताओं का विवेचन किया है वह अत्यंत रोचक और सराहनीय है।

डॉ. शर्मा की भाषा और आलोचना-शैली का परिचय देते हुए गीता शर्मा ने एकदम ठीक लिखा है कि "उनकी आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि गम्भीर विचारों, पेचीदा समस्याओं के बावजूद उनकी भाषा अत्यंत सुबोध और शैली सरल होती है जिससे सामान्य भाषा-भाषी जनसाधारण भी उनकी बातों को बड़ी आसानी से समझ सकते हैं। उनकी शैली में जिन्दादिली और हास्य-व्यंग्य के भी भरपूर दर्शन होते हैं।" गीता शर्मा की यह पुस्तक पढ़ते हुए सबसे सुखद अहसास इस बात से होता है कि वर्षों बाद पाठक को बहुत अच्छे हिन्दी गद्य का भूला हुआ स्वाद फिर से ताजा हो जाता है। इतना सुन्दर गद्य और वह भी आलोचना-साहित्य में, आज लगभग दुर्लभ हो चला है। सहज, सुबोध और सृजनात्मक भाषा-शैली के साथ संतुलित, सुसंगत और वस्तुपूरक मूल्यांकन गीता शर्मा की इस कृति की सबसे बड़ी विशेषता है।

डॉ. रामविलास शर्मा और परंपरा का मूल्यांकन; गीता शर्मा—वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, मूल्य *175.00*

ग्रमीण कहानियाँ और कोरिया यात्रा

❑ ज्योतिष जोशी

आधुनिक कहानी की सबसे बड़ी विशेषता है उसमें सहजता से व्यक्त जीवन यथार्थ की संवेदना। कहना न होगा कि यही वह वृत्त है जिसके चारों तरफ कहानी का पूरा संसार निर्मित होता है। साहित्य की विभिन्न विधाओं में कहानी इसलिए भी महत्वपूर्ण होती है कि उसमें जीवन की सहज और संवेदनशील घटना का सजीव चित्रांकन होता है। कहानी की विश्वसनीयता तथा लेखकीय भूमिका दो ऐसे तत्व हैं जो आज की कहानी के सर्वाधिक चर्चित मानदंड बन गए हैं। कहानी के इसी परिदृश्य पर अनुभव और लेखक की उठाए सवालों से जूझने की निरंतरता की भूमिका भी उसे उत्कृष्ट बनाती है। लेकिन उसकी अहमियत इसी में है कि वह जीवन को किस रूप में ले रही है। जहाँ जीवन का प्रश्न होगा वहाँ तनाव और संघर्ष के रूप भी होंगे और जहाँ जोड़ तोड़ होगा वहाँ जीवन नहीं हो सकता।

प्रख्यात कथाकार रामदरश मिश्र की नवीनतम कृति 'मेरी प्रिय कहानियाँ' उनकी चुनिंदा बीस कहानियों का संकलन है जो अपनी सहजता और मानवीय संवेदना से युक्त होने के कारण प्रभावी बन पड़ी है। इस संग्रह में अधिकांश कहानियाँ ग्रामीण परिवेश पर लिखी गई हैं जिनमें एक ओर गाँव की बेबसी से जूझते लेखक की आत्मीयता तथा मानवीय करुणा का तीव्र संवेदनात्मक आख्यान है तो दूसरी ओर नगरीय त्रासदी की भयावहता और विद्रूपता पर तीखा प्रहार है। कुछ उल्लेख्य कहानियों में 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडिया' एक सशक्त कहानी है जिसमें गाँव की गरीबी, भुखमरी अपनी पूरी तीव्रता के साथ व्यक्त हुई है, वहीं बेकार युवक की आलग्लानि के माध्यम से मानवीय संबंधों और उसकी विवशताओं की सजीव प्रस्तुति भी हुई है। गरीबी की इसी भयावहता के बीच रेडियो पर नेताओं के भाषण तथा सरकारी उद्घोषणाएं कितनी हास्यास्पद हैं, अनुमान लगाया जा सकता है।

'एक औरत एक ज़िंदगी' में गाँव का पूरा परिदृश्य सामने आ जाता है जिसमें दरिद्रता अपने चरम रूप में दिखाई पड़ती है। नरेश की बहू 'भवानी' विधवा हो जाने के बाद सारी गृहस्थी संभालती है, यातानाएँ झेलती है और उस पर भी धनपतिया का अनाचार सहती है। गाँव के परिवेश को यह कहानी इतनी तीव्रता से सामने लाती है कि कुछ सोचने को भी शेष नहीं रह जाता। 'खाली घर' ग्रामीण परिवेश को ही व्यक्त करती कहानी है। इसमें विनोद की माँ की मृत्यु उन माताओं की मृत्यु का प्रतीक बन गई है जो अभाव में मरती हैं। विनोद का माँ के प्रति रोना और निरंतर उसी की यादों में खोए रहना इतना कारुणिक बन गया है कि उसी से कई सवाल उठते प्रतीत होते हैं। यह कहानी एक ही साथ दरिद्रता, असहायता, विवशता तथा ग्रामीण संसार के पूरे परिवेश को चित्रित करने में सफल हो गई है।

'लड़की' में सावित्री के माध्यम से समाज में व्याप्त इस धारणा पर तीखा प्रहार हुआ है कि लड़की का होना एक अभिशाप है। क्यों उसे बेवज़ह पीटा जाता है, पढ़ने नहीं दिया जाता, खाने नहीं दिया जाता? इस कहानी में इतनी व्यंजना है कि हमारी तथाकथित संभ्रांतता को खुली चुनौती मिलती है।

'एक भटकी हुई मुलाकात' में पुरुष प्रधान समाज की ख़ामी तथा नारियों की मूल भावना पर हो रहे अन्याय की भर्त्सना की गई है। सुधांशु अंजना से प्रेम करता है और फिर विवाह। किंतु कुछ संदेहों को लेकर वह उसे तलाक दे देता है और अपने पुत्र मनोज को भी बहला-फुसलाकर लिए जाता है। अचानक एक दिन ट्रेन में सफर करते अंजना पुत्र को देखती है, पर क्या वह उसे पा सकती है? इसका जवाब न इस निठल्ले पुरुष प्रधान समाज के पास है और न ही देश के नियंताओं के पास।

'घर' गाँव की उन विकृतियों को खोलती कहानी है जिसमें अपंग, असहाय व्यक्ति को अपने ही घर के बच्चों से प्रताड़ना मिलती है। उसे दो जून की रोटी नसीब नहीं होती किंतु गाली हर पल हमेशा। ऐसा क्यों होता है, क्या इसका उपचार संभव है?

इसके अलावा मुर्दा मैदान, सीमा, निर्णयों के बीच एक निर्णय, अतीत का विष, मुक्ति, सर्पदंश तथा ज़मीन कहानियाँ भी अपनी सहजता, तीव्र संवेदता तथा गहरे भाव-बोध के कारण अच्छी बन पड़ी हैं जिनमें क्रमशः महानगरीय दरिद्रता तथा अमानवीयता विकलांग किशोरों की समस्या, मनोव्यथा से उपजी त्रासदी, लड़कियों की उपेक्षा, साहूकारी से पैदा हुई विकृति तथा हरिजनों पर हो रहे जुर्म और फिजूल उद्घोषणाओं की शिनाख्त की गई है।

इस पूरे संग्रह में जो एक बात सबसे अधिक प्रभावित करती है वह है-सहजता। अपनी सहजता में ये कहानियाँ इतनी भाव-व्यंजक बन गई हैं कि वह पाठक को समानुभूति की दशा में पहुँचाती हैं। दूसरा तत्व है-इसकी विश्वसनीयता। कहानियों की परिधि चूँकि मानवीय संवेदना के मूल से आयी है, इसलिए यह विश्वसनीयता की कसौटी पर खरी उतरती हैं। इन कहानियों की विशेषता यह भी है कि कहीं भी लेखकीय दखल अनावश्यक नहीं है। उसके सारे पात्र, चरित्र, घटनाएं वास्तविक हैं। ऐसा इसलिए हो पाया है कि लेखक उन अनुभवों को अपनी अनिवार्य अनुभूति का ज़रुरी हिस्सा बना लेने में सफल हुआ है। वह पात्रों के अन्तर्विरोधों, परिस्थितियों तथा भाव-विन्यासों को इतनी सजीवता और तीव्रता से ग्रहण करता गया है कि कहानियों में जीवन आ गया है और कदाचित् इसी कारण वो अधिक संप्रेक्ष्य तथा सहज संवेद्य बन पाई हैं।

इस संग्रह की एक अहम विशेषता कहानियों में उठे सवालों से लेखक की जूझने की निरंतरता है। लेखक कुछ ही कहानियों में वाचक की भूमिका में आता है, अन्यथा वह सर्वत्र वही जीवन जी रहा होता है, जिसका वह चित्रण करता है। कथ्य की बेबाकी और साधारणता उनकी शैली और भाषा की एक बड़ी विशेषता है। उनकी कहानियों का स्वर विद्रोहात्मक है—लेकिन उस विद्रोह में विनाशात्मकता नहीं है, वरन् सृजनात्मकता है। यह बड़ी बात होती है। इसीलिए सीमा, मोहन, भोला, भवानी, विनोद, ज्ञान, सुषमा, अंजना, बलराम तथा गोकुल का लड़का अपने मौन में ही विद्रोह लिए हुए हैं जिनके मन में समाज की सास्थानिकता के प्रति तीखा विरोध है। वे उस ढाँचे को तोड़ देना चाहते हैं लेकिन वे सर्वानुमति की उपेक्षा नहीं करना चाहते। राजनीति, धर्म, कर्मकांड तथा पुरातनपंथी मान्यताओं के ख़िलाफ उनकी मुहिम असंतोष की हद तक है लेकिन क्या वे ऐसा कर पाते हैं? यह इस संग्रह की कमज़ोरी कही जा सकती है। किंतु जीवन-यथार्थ में इस आदर्श की गुंजायश ही कहाँ है?

बड़े कहानीकार जो आज भी अपनी तल्खी तथा तेवर के साथ हमारे बीच उपस्थित हैं उनमें रामदरश मिश्र एक प्रमुख नाम है। वे कहानी को उतना ही संजीदा मानते हैं, जितना जीवन। उनकी संजीदगी का पूरा

एहसास गाँव में फैली जड़ताओं और विकृतियों से टकराता है, इसलिए उनमें गाँव की हर स्थिति खोजी जा सकती है।

ये कहानियाँ चूंकि कुछ बर्ष पहले लिखी गई इसलिए अधिकांश पात्र और स्थितियाँ अतीत में चले गए हैं। लेकिन उनकी संवेदना सर्वथा विश्वसनीय लगने वाली है। चेख़ोव का यह कथन कि 'आदमी को दिखला दो कि वह कैसा है, वह बेहतर हो जाएगा।' कहानीकार पर अक्षरशः सिद्ध होता है। संग्रह में एक खटकने वाली बात है, वह है—नगरीय पृष्ठभूमि पर लिखी कहानियों का अभाव। ऐसा नहीं है कि उन्होंने नगरीय जीवन से जुड़ी कहानियाँ नहीं लिखी हैं, लेकिन इस संग्रह में उनका पर्याप्त न होना खटकता है। आज मूल्यों का विनाशात्मक दौर नगरों से ही चला है, जिसमें अलगाव, परायापन और उपभोक्ता संस्कृति की तमाम खामियाँ पूरे परिवेश पर छा रही हैं।

लेकिन जो प्रस्तुत हैं, उनकी अन्तर्वस्तु और उससे उठे सवाल इतने संजीदा हैं कि उसकी रिक्ति अलग से थोपी गई, विचार-वीथि लगती है। यह अलग बात है कि जो कहानियाँ इस संग्रह में नगरीय पृष्ठभूमि पर रचित हैं, उनमें ग्रामीण कहानियों जितनी तलस्पर्शिता नहीं आ पाई है। मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था तथा भविष्य के प्रति सचेत अन्तर्दृष्टि ऐसे तत्व हैं जो कहानीकार को मूर्धन्य बनाने में समर्थ हैं।

यात्रावृत्त हिंदी साहित्य की एक अनूठी विधा है। यह एक मात्र ऐसी विधा है जिसमें समस्त संसार को समाहित कर पाने और पाठक को संवेदित करने की अपूर्व क्षमता होती है। दुर्भाग्य से हिंदी में इसका विकास कम हुआ और जो हुआ भी है, उसमें ऐसी विशेषता का प्रायः अभाव ही है। इसी वज़ह से इस प्रगति को संतोषजनक नहीं कहा जाता।

आलोच्य यात्रावृत्त **'तना हुआ इन्द्रधनुष'** सुपरिचित साहित्यकार रामदरश मिश्र की उत्तर कोरिया यात्रा पर आधारित है, जिसमें काफी संभावनाएँ तो आई ही हैं। ऐसे अनछुए पहलू भी उठे हैं जो पाठकों के मर्म विंदुओं तक सफलतापूर्वक पहुँचते हैं। पहली बार किसी हिंदी यात्रावृत्त में एक ही साथ साहित्य की विभिन्न विधाओं के सारांश का सगुंफन है, जिसमें मन को मथने वाली तीखी सच्चाई है तो प्राकृतिक सुषमा से साक्षात्कार कराती काव्यात्मकता भी है। दूसरी संस्कृति को प्यार करती आत्मा है तो भारतीयता के प्रति अनुराग से आबद्ध नागरिकता भी है। इस कृति में सर्वत्र एक भारतीय नागरिक विद्यमान है जो अपनी भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय गौरव के प्रति अभिभूत होते हुए भी विदेशी संस्कृति और उनके स्नेह के प्रति कृतज्ञ है।

इस यात्रा वृत्त को नौ अध्यायों में बाँटा गया है। पहला अध्या है—'प्रस्थान।' इसमें उत्तर कोरिया की 'जूचे अकादमी' का निमंत्रण तथा उसके बाद की स्थितियों का रोचक वर्णन हुआ है। इन वर्णनों में लेखक की सहजता तथा उसकी विनम्रता का बार-बार परिचय मिलता है। लेखक चूँकि कभी विदेश यात्रा पर नहीं गया है, इसलिए इस यात्रा में होने वाली परेशानियों की कल्पना कर सिहर उठता है और इसी क्रम में वह ऐसे लोगों की ख़बर भी लेता है जो तिकड़म करके अक्सर विदेश दौरे पर जाते हैं। अस्वस्थता तथा दूसरी अड़चनों के बावजूद लेखक अपने अन्य मित्रों के साथ आखिर यात्रा पर निकल ही पड़ता है। सफर में बीजिंग का नाम आते ही उसे चीनी आक्रामकता याद हो आती है लेकिन जब वहाँ भारत जैसा परिवेश दीखता है तो वह प्रकृतिस्थ हो जाता है। लेखक की इस मनः स्थिति के पीछे उसका भारत के प्रति असीम स्नेह तथा विश्व बंधुत्व की अगाध भावना का परिचय मिलता है।

दूसरे अध्याय—'बीजिंग में तीन दिन' में बीजिंग में तीन दिनों के प्रवास का रोचक वर्णन है। लेखक का अपना अनुभव पुष्ट होता है कि चीन सहज इंसानों का देश है। दरअसल उसकी आक्रामक छवि महज़ राजनैतिक तनावों के कारण ही बनी है। वही भोले-भाले लोग वहाँ मिले जिनसे उसे एक सहज प्रेम मिला और सौजन्य

भी। इस अध्यांय में अन्य वर्णनों से इतर कुछ महत्वपूर्ण सवाल भी उठे हैं। चीन में लेखक को कुछ पाकिस्तानी नागरिक मिलते हैं। उनका प्रेम पाकर लेखक अभिभूत हो उठता है। अपनी भाषा और अपने लोगों को पाकर वह भारत विभाजन का प्रश्न उठाता है। लेखक पूछता है कि राजनीति ने हम दोनों को अलग कर दिया है किंतु क्या हम एक दूसरे से अलग हो पाए हैं? अगर नहीं तो क्या राजनीतिक स्तर पर ईमानदारी से पहल क्यों नहीं होती कि हम भावनात्मक स्तर पर भी तो एक हो जायं। राजनीति से देश बंट सकता है, किंतु दिल नहीं बंट सकता। चीनी शापिंग सेंटर में भी कुछ पाकिस्तानी बच्चे मिले जिससे लेखक को बड़ी प्रसन्नता हुई।

'प्यांगयांग' तीसरा अध्याय है जिसमें उत्तर कोरिया की इस राजधानी में लेखक का प्रवास, जूचे अकादमी द्वारा उसका भव्य स्वागत तथा उस शहर की असीम सुषमा वर्णित है। लेखक को वहाँ की पहाड़ी साफ सुथरी सड़कें तथा समुन्नत खेती ने बड़ा प्रभावित किया। इसी क्रम में लेखक को उत्तर कोरिया के निर्माता किम इल सुंग का पैतृक घर भी देखने को मिला। वस्तुतः यह घर के नाम पर एक फूस की झोपड़ी थी जिसमें इस महान नेता का जन्म हुआ था। कोरियावासी अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति समर्पित हैं। उन्हें विदेशी भाषा से अपने देश की प्रगति नहीं करनी। अंग्रेजी और दूसरी भाषाएं न जानने के बाद भी उनका ज्ञान और उनकी विद्वत्ता को देखकर लेखक का भारतीय मन अपनी देशी हीनता को लेकर व्यथित हो उठता है—"मैं कितनी हीनता अनुभव कर रहा था यह सोचकर कि मैं उस देश का वासी हूँ हो बहुत बेशर्मी से अंग्रेजों की छोड़ी हुई भाषा को माथे पर ताज सा पहने हुए एक बहुत बड़ा झूठ दुहराता आ रहा है कि अंग्रेज़ी हमारे ज्ञान की खिड़की खोलती है, उसके बिना हम अधूरे हैं, अज्ञानी हैं।"

'शौर्य की लय और घर बंटने का दर्द' चौथा अध्याय है जिसमें कोरियावासियों की बहादुरी का वर्णन तो मिलता ही है, विभाजन को लेकर उनकी पीड़ा का अहसास भी होता है। इसी अध्याय में लेखक के विभिन्न दृश्यावलोकनों और विभिन्न कार्यक्रमों में उसकी अनुभूति का बड़ा संश्लिष्ट चित्रण मिलता है। कोरियावासियों में जापान तथा अमरीका के प्रति भयंकर घृणा है जिसके चलते उनका देश तबाह हुआ तथा अंततः विभाजित भी हो गया। उनके मन में भारत के लिए असीम श्रद्धा और सम्मान है। वहाँ के दुभाषिए का भारत प्रेम तथा राजकपूर की फिल्म का गीत गाना इसका एक उदारहण है। इस अध्याय में लेखक की अनुभूति और अभिव्यक्ति का बड़ा मोहक पुट मिलता है। इस कृति का पाँचवा अध्याय है—'सहचर है सौन्दर्य।' इस अध्याय में लेखक द्वारा विभिन्न रम्य स्थलों में जाने का मोहक वर्णन है। इस अध्याय में भी कोरिया विभाजन को लेकर वहाँ के नागरिकों के अवसाद को बड़ी संजीदगी से चित्रित किया गया है। इसी में लेखक द्वारा अन्तर्नगरीय ट्रेन यात्रा का वर्णन है जिसमें कोरियाई सुंदरियों की सुकुमारता तथा सलज्जता का बड़ा अच्छा चित्रांकन हुआ है।

'अपनी आधुनिकता' छठा अध्याय है जिसमें कोरिया की सहज और पावन संस्कृति से साक्षात्कार हुआ है। प्रत्येक नागरिक जहाँ अपने देश के प्रति समर्पित है, वहीं अपने संबंधों के प्रति भी सचेत है। उनमें एक निश्छल भाव है, सच्चा प्रेम है, और बड़े-बड़े पदों पर जाने के बाद भी तनिक गुरुर नहीं। वहाँ हमारे देश की तरह आधुनिकता नहीं है कि अपनी भाषा, संस्कृति तथा नैतिक मूल्यों को तिलांजलि दे दी जाती हो। लेखक का सहज मन इन सारे पहलुओं पर अभिभूत होता चलता है कि काश, हमारे यहाँ भी ऐसा ही होता।

'रंगमंचः जीवन मंच' सातवाँ अध्याय है। इसमें 'देश की बेटी' नाटक का दृश्य जगत साक्षात हो उठा है। कोरियन संवाद के कारण लेखक को परेशानी होती है। किंतु दृश्यता का परिवेश उसे मर्मस्थल तक पहुँचा देता है। इस नाटक में लेखक ने सामाजिक निर्माण और हित का सौंदर्य देखा। साम्राज्यवाद के खिलाफ के संघर्ष और राष्ट्र निर्माण के प्रति समर्पण को भी देखा। कोरिया की समृद्धि ने उसे आह्लादित कर दिया। न कोई बेकार, न अशिक्षित, न निर्वस्त्र, न भिखारी। बस देश को आगे ले जाने की उनकी ललक ही अनूठी है।

'फिर आइएगा' आठवाँ अध्याय है जिसमें कोरियावासियों द्वारा लेखक तथा उनके मित्रों को दी गई भावभीनी विदाई का वर्णन है। और पुनःआगमन की याचना है जिसे लेखक भरे भरे से स्वीकारता है। और 'देश की ओर' नवाँ अध्याय है जिसमें लौटते हुए मास्को का संक्षिप्त वर्णन है। इस का सहज प्रेम और भी आनंदित करने वाला है। वहाँ भी भाषा-समस्या लेखक को कष्ट में डालती है। और इसी के साथ लेखक अपने मित्रों सहित भारत पहुँचता है। देश पहुँचने पर उसका स्वदेश प्रेम और बढ़ जाता है। उसे दूसरे लोगों की तरह अपने देश की लघुता का भान नहीं होता। वह सिर्फ इसी बात से दुखी होता है कि अगर सही नेतृत्व मिला होता तो हमारा देश भी कितना आगे पहुँच चुका होता। इस प्रकार इस यात्रावृत्त में अनुभूतियों की इतनी सघन बुनावट है कि इसका चित्रण जीवंत हो उठा है। भाषा का प्रवाह अपनी सहजता और शालीनता में इतना तीव्र है कि इसकी संप्रेषणीयता सरल हो गई है। संवेदना के मर्म तक पहुँचने वाली यह कृति जहाँ कोरिया का शौर्य बताती चलती है, वहीं उसकी सामाजिक प्राकृतिक सुषमा से भी साक्षात्कार कराती है। वास्तव में उसकी पूरी गुणवत्ता इसी में है कि पूरा देश आत्मीय हो उठता है। उसके सौन्दर्य की एक-एक राशि हृदय के तल तक बैठती जाती है। दूसरी तरफ लेखक ने कई सवाल भी सामने लाए हैं। उसमें एक है भाषा और दूसरा है— विभाजन। अपनी भाषा से प्रेम करना राष्ट्रीय दायित्व है। भाव के स्तर पर विभाजन यथार्थ नहीं है। पाकिस्तान के व्यक्तियों के प्रति लेखक का दृष्टिकोण इसी का परिचायक है।

लेकिन कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार कृति के अर्थतंत्र को तो बाधित करता ही है, भाषा को भी शिथिल करता है। दूसरी कमजोरी आवृत्ति की है। कहीं-कहीं एक ही कथन की पुनरावृत्ति इतनी ज्यादा है कि ऊब हो जाती है। तीसरा दोष विषयांतरता का है। कहीं-कहीं लेखक अपने मूल से इतना ज्यादा हट जाता है कि उसका मंतव्य अधूरा रह जाता है। लेकिन इसके बावजूद कृति की उपादेयता में कोई कमी नहीं आती।

पुस्तकें : 1. *मेरी प्रिय कहानियाँ* : *रामदरश मिश्र*, मूल्य : 75 रुपये
2. *तना हुआ इंद्रधनुष* (यात्रा) : *रामदरश मिश्र*, मूल्य : 50 रुपये
दोनों पुस्तकों के प्रकाशक : साहित्य सहकार, ई. 10/14 कृष्ण नगर, दिल्ली - 110051

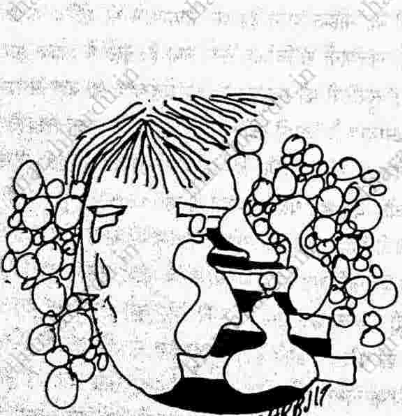

वेद और हिमाचल

❑ डॉ. पद्मचन्द्र काश्यप

मानव की प्रथम जिज्ञासा, यह सृष्टि क्या है? इसका प्रारंभ कैसे हुआ? कब हुआ? विस्तार किस प्रकार हुआ? इसके संचालन के नियम क्या हैं और इस विधान में उसका अपना स्थान क्या है? इन क्या, क्यों, कैसे, कब और कहाँ जैसे प्रश्नों पर वह गहराई से विचार करना गया। सृष्टि के व्यापार को उसने बाह्य चक्षु से देखा, भीतरी चक्षु से पहचाना और जो सत्य प्राप्त हुए, उन्हें व्यक्त किया। ये सत्य ही वेद हैं। इन्हें समझाने के लिए भिन्न-भिन्न विधियों, तरह-तरह के प्रतीकों, संकेतों और रूपकों का सहारा लिया गया। ऋग्वेद का यह बहुचर्चित मन्त्र इस का सुन्दर उदाहरण है :

द्वा सुपर्णा सयुजा सरवाया समानं वृक्षं परिषष्व जाते।
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्न्यो अभिनाक शीति।।

"सुन्दर पंखों वाले (सुपर्ण) समान आयु वाले, दो पक्षी-मित्र (ईश्वर और जीव) समान रूप से एक ही वृक्ष (शरीर) का आलिंगन कर रहे हैं। उनमें से एक (जीव) स्वादिष्ट पीपल (पिप्पल) के फल सांसारिक सुख भोग का भक्षण करता है और दूसरा (ईश्वर) बिना भक्षण (उपभोग) किए केवल देखता रहता है।

ये सत्य एक बार ही, एक ही व्यक्ति ने नहीं देखें, इन्हें अनेक ऋषियों, मुनियों, मनीषियों, बौद्धिकों, विचारकों की समय-समय पर न जाने कितनी पीढ़ियों ने देखा।

इदाहि ते वेविश्वतः पुराजाः प्रत्नास आसु; पुरूकृत् सरवाय :।
ये मध्यमास उत नूतनसू उतावमस्य पुरुहूत बाधि।।

· ऋग्वेद् (6.2.91)

"हे इन्द्र! तू भी विस्मय से पूर्ण है। जो ऋषि आदिकाल में रहते थे वे तुम्हारे लिए यज्ञ करके तुम्हारे मित्र बन गए। बीच के काल वालों ने भी ऐसा ही किया, और फिर आजकल के ऋषियों ने भी तुम्हारी मित्रता प्राप्त की है। इस लिए तुम उस मन्त्र को सुनो, जो तुम्हारी पूजा करने वाले तुम्हारे सामने प्रस्तुत कर रहे हैं।" तथा यही भाव ऋचा (1.16.113) में है और "अग्नि पूर्वेभिऋषिभिरीडयो नूतनैरुत। ऋग्वेद (1.1.1) पूर्व काल में जिस अग्नि की ऋषियों ने उपासना की थी और अब भी ऋषिगण जिस की स्तुति करते हैं।

सत्य सनातन है, सत्य ईश्वर है, अतः वेद के ये सत्य ईश्वर के श्वास कहलाए, ईश्वर-प्रदत्त माने गए। मन्त्र द्रष्टा ऋषियों ने स्वयं अपने मन्त्रों की व्याख्या नहीं की। सत्य ध्रुव है, स्पष्ट है, द्रष्टन्य है। किन्तु समय बीतने पर इन ऋषियों को मन्त्रों की व्याख्या की आवश्यकता महसूस हुई। उन्हें समझने और समझाने के लिए उनकी टीका और भाष्य ज़रूरी हो गया। भाष्य के बिना मन्त्रों में प्रयुक्त रूपक संकेत और प्रतीक के

वास्तविक गूढ़ अर्थ दुरुह हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि भाष्यकारों, टीकाकारों, व्याख्याकारों ने प्रत्येक शब्द, प्रत्येक मन्त्र के बहुधा अपनी-अपनी समझ के अनुरूप भिन्न-भिन्न एवं अनेकार्थ किए। प्राय: यह माना जाने लगा कि वेद मन्त्रों का अभिधा अर्थ है ही नहीं। स्थिति विचित्र-सी हो गई। वेदार्थ गुह्य से गुह्यतर होते गए। बिना गुरु, बिना आचार्य की सहायता के वे एकदम दुर्बोध बन गए। यह तो एक प्रकार से सत्य को नकारना हो गया।

हर शब्द का अभिधार्थ है, भले ही लक्षणात्मक अथवा व्यंजनात्मक उसके कितने ही दूसरे अर्थ हों। 'सूर्य निकल आया', इसका शाब्दिक अर्थ निर्विवाद है कि सूर्य उदय हो गया है। वैसे यही वाक्य अनेकार्थ भी है और व्याख्याकार बिना किसी संशय के कह सकता है कि 'सूर्य निकल आया' का अर्थ है सूर्य किरणें पूर्व दिशा से सर्वत्र प्रकाश फैला रही हैं। रात बीत गई है। अन्धकार दूर हो गया है, प्रकाश आ गया है। प्रकाश आया, जीवन में गति आई, जीवन के मुख्य कृत्य होने लगे। सूर्य निकल आया, वह सूर्य, जो जलदाता है। उसकी किरणें सागर से जल का शोषण करेंगी। वाष्प बनेगा। वह मेघो में बदल जाएगा और जल्द वर्षा बरसाये। वर्षा होगी, वनस्पतियों में प्राण आ जाएगा। कृषि में वृद्धि होगी, अन्न उपजेगा। सूर्य जीवन दाता है, जीवन का स्वामी है। वह निकल आया। विघ्न बाधाएँ दूर हुई। रोग शोक दूर हो गए। भाग्य का उदय हुआ। सूर्य सविता है, ईश्वर है, जगत् का नियन्ता है। वह अब हमें सद्बुद्धि देगा, हमें प्रेरित करेगा। महर्षि विश्वामित्र ने जब यह सत्य समझा, उसे देखा तो कह उठे :

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। (13.5.62.10)

—जगत् को उत्पन्न करने वाला प्रकाशमान सूर्य हमारी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष विषय वाली बुद्धि को श्रेष्ठ कामों में प्रेरित करे।

कहने का आशय यह है कि वेद मन्त्रों का शाब्दिक, अभिधा अर्थ भी है और वह भी उतना ही ठीक है जितना प्रतीकात्मक और रूपकात्मक। यों तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार वेद के पाँच प्रकार के अर्थ हो सकते हैं।

ऋग्वेद में दो नाम बार-बार आते हैं। इन्द्र और वृत्र। पहला विजयी, दूसरा विजित—परास्त। जिस ऋषि ने भी इन्द्रगान किया, उसके वृत्रहन्ता रूप को ही सराहा, इन्द्र महान पराक्रमी, देवराज, स्वर्गाधिपाति और परम प्रशंसनीय हैं। किन्तु वृत्र? जिज्ञासा स्वाभाविक है। वृत्र कौन था? कहाँ का था?

मानव की उस प्रथम उपलब्ध रचना में कतिपय अपवादों को छोड़ किसी स्थान विशेष का नाम नहीं है। ऋग्वेद में आया है : "शर्यणावति सोममिन्द्र : पिवत वृत्रहा।" अर्थात् वृत्र के मारने वाले इन्द्र ने शर्यणावत में सोम पिया।" अब यह शर्यणावत कोई पर्वत है, नगर है, स्थान है या क्षेत्र, साधिकार कुछ नहीं कहा जा सकता। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी "ऋग्वैदिक आर्य" नामक पुस्तक में लिखा है "शर्यणावत सोहान नदी सुषोमा के ऊपर वाले प्रदेश का नाम प्रतीत होता है, जो कि अर्जिकीया की सीमा में पड़ता था। (पृष्ठ 11)

ऋग्वेद के तृतीय मंडल के 23वें सूक्त में मानुष नामक सरोवर का उल्लेख है, जो सरस्वती, आफ्या और हषद्वती के क्षेत्र में था। पर्वत के सन्दर्भ में स्पष्ट नाम है मुंजवत का।[1] सोम इस पर्वत पर उपलब्ध होता था। कतिपय विद्वान इसे तिब्बत में कन्धार में या कश्मीर में स्थित बताते हैं, और लालचन्द प्रार्थी की मान्यता हैं कि यह पर्वत व्यास उपत्यका की "मुज्जग" पहाड़ी है।[2]

हिमालय नाम वेदों में अप्राप्य है। वहाँ हिमवन्त अथवा हिमवान का उल्लेख है :

1. ऋग्वेद (1.34.10)
2. कुलूत देश की कहानी, पृष्ठ 71

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्ररसया सदाहुः।
यस्येमाः प्रदिश यस्य वाहू तस्मै देवाय हविषा विधेम॥[1]

—जिस हिरण्यगर्भ रूपी सूर्य की महिमा को बर्फ़ वाले पर्वत बतला रहे हैं। जिस से निकला जल-रूपी रस समुद्र में जाकर उसके महत्व को दिखा रहा है, दिशा उपदिशा जिस की भुजायें हैं, उस देवता को हवि प्रदान करो।

अर्थववेद (पृथ्वी सूक्त, 12.3) कहता है :

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु।

—तेरे पहाड़, तेरे हिमवान् पर्वत तथा तेरे जंगल हमारे लिए सुखकारी हों।

नाम भले ही न हो, संकेत स्पष्ट है। यह हिमवान् अथवा हिमवन्त और कोई नहीं हिमालय ही है।

लेकिन वृत्र के सन्दर्भ में यदि किसी भौगोलिक चिह्न का उल्लेख है, तो वह है नदियाँ। वे तब थीं, आज भी हैं। इन्हीं निश्चित सूत्रों के आधार पर हम वृत्र का कर्मक्षेत्र स्थापित कर सकते हैं।

इन्द्र की महानतम उपलब्धि थी वृत्र के अधिकार से जल को मुक्त कराना। एक ऋषि के बाद दूसरे ऋषि ने, और एक ऋचा के बाद दूसरी इन्द्र-संबंधी ऋचा ने कहा कि इन्द्र का सब से बड़ा पराक्रम था वृत्र द्वारा रोकी हुई नदियों को पृथ्वी पर प्रवाहित करना और तमिस्रा से ढकी हुई अनेक उषाओं और वर्षों को विमुक्त करना।[2] अपने अत्यन्त प्रचंड शत्रु का वध कर इन्द्र ने सप्त नदियों को बहाया।[3] और सातों सिन्धुओं को प्रवाहित किया।[4] स्वयं नदियों ने एतदर्थ इन्द्र का धन्यवाद किया, उसका गुणगान किया।

विपाशा और शुतुद्री ने कहा :

इन्द्रो अस्मां अरदद्वज्र बाहुर पाहन्वृत्र परिधि नदीनाम्।
देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वय प्रसवे याम उर्वीः ॥

—नदियों को रोकने वाले वृत्र का संहार कर बज्रधारी इन्द्र ने हम दोनों का मार्ग खोल दिया। प्रचुर जल-प्रवाह-युक्त विपाशा और शुतुद्री पर्वत के अंग से निकल कर समुद्र से मिलने के लिए लालायित थीं।[5]

शुतुद्री (शतद्रु) सतलुज है और विपाशा व्यास। सतलुज और व्यास तद्भव रूप हैं। शुतुद्री किस प्रकार सतलुज बनी, यह मनोरंजक क्रिया है। शुतुद्रा-सुतुद्रु-शतुद्रु-शतद्रु-शतरुद्र-सतरुद्र[6]-सतलुद्र-सतलुद-सतुलज। यद्यपि शुतुद्री वर्तमान काल में प्रयुक्त नहीं होता है, लेकिन शतद्रु प्रचलित है, मुख्यतः कर्मकांड संबंधी कृत्यों में। प्रातः सन्ध्यावंदन के अवसर पर पढ़े जाने वाले संकल्प में सतलुज उपत्यका के कई स्थानों[7] पर शतद्रु शब्द का प्रयोग होता है, यथा "शतद्रु तीरे, निरथे स्थाने, मुद्रा गिरि हिम-पर्वते।

विपाशा का वर्तमान स्वरूप इस प्रकार बना। विपाशा-बियासा-ब्यासा-ब्यास। व्यास उपत्यका के कुल्लू-मंडी क्षेत्र में यह नदी आज भी प्रायः व्यासा के नाम से ही जानी जाती है।

शतद्रु और विपाशा के अनुसार इन्द्र ने सब दिशाओं से बाधा देने वालों को खोजकर बज्र से मार

---

1. ऋग्वेद (10.121.4)
2. ऋग्वेद (4.2.19)
3. ऋग्वेद (2.2.19)
4. ऋग्वेद (1.12.72) और (2.32.12)
5. ऋग्वेद (3.3.33)
6. सतलुज उपत्यका में भूंडा नामक यज्ञ के अवसर पर देव-स्वागत में पढ़े जाने वाले "परोइड़ में"—सतरुद्रा उपरि कंठे, शैला गिरि, शैलासनामाः शिवास कंठे परशुराम कंचनपुरी स्थापिते—पाठ आता है।
7. इन स्थानों में काव, ममेल, दत्तनगर तथा निरमंड की गिनती की जा सकती है।

डाला और तब गमनशील जल आने लगा।[1] क्योंकि वृत्र ने समस्त जल राशि को छिपा रखा था।[2] इस के लिए इन्द्र को इक्कीस पर्वतों को विदीर्ण करना पड़ा था। —अतिविद्धा विथरेण चिदस्त्रा त्रिः सप्त सानु सहिता गिरीणाम।[3] और —इन्द्रग्न्योरनु व्रतमुहाना यन्ति सिन्धवौ यान्त्सी वन्धाद् मुंचतां नभन्तामन्यके समे।[4] सिन्धु आदि नदियों को खोला था। —अजयो गा अजयः शूरं सोममवासृजः सर्तवे सप्तसिंधूनः।[5]

जिन सात नदियों को इन्द्र ने विमुक्त किया था, वे हैं : सिन्धु, सरस्वती, शुतुद्री (शतद्रु) विपाशा, परुष्णी, असिन्की और वितस्ता। सिन्धु और वितस्ता (जेहलम) के इलावा अन्य सभी नदियाँ वर्तमान हिमाचल प्रदेश की हैं।[6] आसिन्की चन्द्रभागा (चिनाव) है, परुष्णी रावी है। रावी इरावती का अपभ्रंश है। परुष्णी का नाम इरावती कब और क्यों हुआ यह खोज का विषय है। हाँ, विपाशा का पूर्ववर्ती नाम अर्जिकीया था। यह नाम ऋग्वेद के प्रारंभिक काल में प्रचलित था। विपाशा नाम ऋग्वेद के मध्यकाल अर्थात् वशिष्ठ-विश्वामित्र के युग में पड़ा। ऋषि वशिष्ठ किन्हीं कारणों से जीवन से निराश-हताश हो गये थे और उन्होंने आत्महत्या के मनोरथ से अर्जिकीया में छलांग लगा दी। भाग्यवश, नदी में डूबने से वे बच गए। उन का मोह पाश टूट गया। वे विपाश हो गए। मुक्त हो गए, पुनः स्वस्थ हो गए। उन्हें नदी ने विपाश किया था। अतः कृतज्ञ महामुनि ने अर्जिकीया का विपाशा नामकरण किया।

इन्द्र द्वारा उपर्युक्त सप्तनदों के जलों की मुक्ति से यह सिद्ध होता है कि वृत्र का नियंत्रण सरस्वती और सिन्धु नदियों के बीच के क्षेत्र पर था। सप्त सिन्धु क्षेत्र भी इन्हीं नदियों का रहा है।[7] किन्तु हमारी विवेचना के सन्दर्भ में समूचा सप्त सिन्धु प्रदेश, हिमालय से सागर तक नहीं आता है, क्योंकि वृत्र का उल्लेख पर्वतों और जल स्रोतों, उद्‌गमों, से ही संबंधित है। सिन्धु कश्मीर के सीमावर्ती पश्चिमोत्तरी क्षेत्र से होकर लद्दाख के मध्य से होती हुई बहती है और जेहलम नदी कश्मीर घाटी के मध्य से। अतः वृत्र ने जहाँ जल रोक रखा था, वह हिमालय और शिवालिक के बीच का भूखंड रहा होगा। यों वेदो में 21 और 23 नदियों के नाम हैं। एक मंत्र में 21 का उल्लेख है, अन्यत्र गिनती 23 तक जाती है। इनमें उपर्युक्त सात नदियां तो हैं हीं, गंगा, श्वेता, यमुना, सरयु गोमती आपया, हषद्वती, क्रम, कुंभा, सुषोम, रसा आदि भी हैं। गंगा का वर्णन ऋग्वेद में एकाध मन्त्रों में ही आता है। यथा :—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वती शुतुद्री स्तोमं सत्रवा गरणया असिकन्या मरुदवृधे वितस्तया अर्जीकीये श्रृणुह्या सुषोमया।[8]

इससे हमारी धारणा पूर्ण रूप से पुष्ट होती है। उसी विवेच्य काल के सप्त सिन्धु की पूर्वी सीमा से गंगेय क्षेत्र बाहर पड़ता था।

---

1. ऋग्वेद (3.3.33)
2. वही (5.2.30)
3. वही (8.10.96)
4. वही (8.5.40)
5. वही (2.32.12)
6. हिमाचल प्रदेश नामकरण सन् 1948 में हुआ, अतः वेदों में यह नाम ढूंढ़ना व्यर्थ है। तात्पर्य उस क्षेत्र से है, जिसे अब हिमाचल कहते हैं।
7. आधुनिक काल में सप्त सिन्धु के अन्तर्गत गंगा, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, काबेरी और सिन्ध की गिनती की जाती है।
8. ऋग्वेद (10.75.5) और ऋग्वेद (6.4.45.31)

वत्र ने अपने अधिकार क्षेत्र में नदियों पर बान्ध बांधे होंगे और जल प्रवाह को रोका होगा। उस समय सप्त सिन्धु की सातों नदियों का अस्तित्व ही नहीं था,[1] अथवा उन के बहाव का रुख ऐसा था जिस के इन्द्रादि का क्षेत्र लाभान्वित नहीं हो पाता था। यह भी संभव है कि वृत्र ने नदियों की दिशा बदल कर जल को अपने यहाँ सिंचाई के काम लाया हो जिस से निचले इलाकों में जल का अभाव हो गया हो। इस बात का संकेत निम्न त्तृक्षा से मिलता है:

प्राग्रुवो नभन्वो न वक्वा ध्वस्रा अपिन्वयवतीर्कृतज्ञा :
धन्वान्यां अपृणवतृषाणां अंधोगिन्द्र स्तर्यो दंसुपत्नी :।

—इन्द्र ने किनारे को तोड़ने वाली जल से पूर्ण अन्नोत्पादिनी नदियों को परिपूर्ण किया। उन्होंने जल विहीन शुष्क देशों को वर्षा द्वारा पूर्ण किया और प्यासे पथिकों को शांति दी।

स्पष्टत: अनावृष्टि से उनका प्रदेश त्रस्त रहा होगा। अकाल और दुर्भिक्ष से वहाँ की जनता पीड़ित रही होगी। त्राण का एक मात्र साधन था जल और जल प्राप्ति का उपाय था उस पर अपना अधिकार स्थापित करना।

जल साधनों पर प्रभुत्व का यह संघर्ष अनेक उषाओं और वर्षों तक चला। गुफा में रहने वाले वृत्र ने अपनी अद्‌भुत शक्ति से अन्तरिक्ष और आकाश को आश्चर्यान्वित कर रखा था।[2] वह किसी प्रकार भी इन्द्र के वश में नहीं आ रहा था। देवगण उसके मायावी रूप[3] से व्याकुल थे। वह देवताओं के विरुद्ध बिजली, मेघ की गर्जना, मूसलाधार वर्षा और भीषण बज्र का प्रयोग किया करता था।[4] वह घोर अन्धकार पैदा कर दिया करता था।[5] कई बार आमने-सामने युद्ध हुए। इन्द्र ने तीखे शस्त्रों का प्रयोग किया, किन्तु वृत्र को वशीभूत न कर सका।[6] विकट संघर्ष चलता रहा। इन्द्र के आयुध कोई काम न आए।

अन्तत: दधीचि ने अपनी हड्डियाँ दी।[7] महर्षि की इन हड्डियों से त्वष्टा ने वज्र बनाया और इसी वज्र से इन्द्र ने वृत्र आदि आठ सौ दस (810) दैत्यों का हनन किया। भागवत पुराण में वज्र विश्वकर्मा ने बनाया था—और त्वष्टा वृत्र का पिता था। उस पुराण में वृतान्त इस प्रकार है। "विश्वामित्र देवताओं का गुरु बना—उसका पिता देवकुल से था और माता असुर कुल से थी वह यज्ञ का भाग दोनों देवताओं और असुरों को दिया करता था। इन्द्र को यह सह्यय नहीं था। उसने विश्वरूप की हत्या कर दी। विश्वामित्र का पिता त्वष्टा इन्द्र के इस कृत्य से कुपित हुआ और यज्ञाग्नि से एक भयंकर दानव प्रकट किया। त्वष्टा की आज्ञा से उस तमोगुणी पुत्र ने समस्त देवलोक को त्रस्त करना शुरू कर दिया। उसने समस्त जगत को घेर लिया था, इस लिए उस का नाम वृत्र पड़ गया।" महर्षि दधीचि अर्थववेदीय थे।

वज्र हाथ आने से ही बात नहीं बनी थी। इन्द्र को वृत्र के आवास का पता नहीं चल रहा था। कुछ ऋचायें कहती हैं। वृत्र अन्धेरी गुफा में रहता था जहाँ सूर्य तक प्रवेश नहीं पाता था।[8] कतिपय अन्य ऋक्षाये कहती हैं कि वृत्र जल में रहता था, मेघों में रहता था, ऋग्वेद (1.7.32) और उन्हीं मेघों में उसने जल को छिपा रखा था।

एक ऋषि के अनुसार वृत्र के प्राण जल में थे। इसका भेद माता अदिति ने पुत्र इन्द्र को दिया था।[10]

---

1. संभव है, इस का संकेत उस काल की ओर ही, जब तिब्बत और दक्षिणी पठार के बीच समुद्र था।
2. ऋग्वेद (2.1.11) 3. ऋग्वेद (1.13.80) 4. ऋग्वेद (1.12.72) 5. वही (1.12.72) 6. वही (2.3.30)
7. वही (1.13.84) 8. ऋग्वेद (2.1.11) 9. ऋग्वेद (1.7.32) 10. ऋग्वेद (2.3.30)

अपने आप को अमर समझने वाले वृत्र के प्राण रूपी जल की स्थिति जानने के लिए उसके कार्यों का अध्ययन किया गया। इससे देवगण केवल इतना जान पाए कि वह जल में सोता हुआ अंधेरे में ही बढ़ता रहता है।

इन्द्र को तब भेद का सहारा लेना पड़ा। इसमें सहायता माता अदिति ने तो की ही, मरुतों और सरमा ने भी सहयोग दिया। उन्होंने वृत्र के आवास का ठीक ठिकाना इन्द्र को बताया। उधर वृत्र को विश्वास था कि उसका भेद कोई नहीं जानता।[1]

अपने को सुरक्षित मानने वाला वृत्र शान्त था। वह गहरी नींद में सो रहा था, तभी इन्द्र ने उस पर आक्रमण किया।[2] इस अचानक हमले में इन्द्र ने उस के हाथ-पांव तोड़ दिए, उसे पैर रहित और परिमाण रहित बना दिया।[3] किन्तु वृत्र ने आत्म समर्पण नहीं किया।

इन्द्र ने वज्र से उसके कन्धों पर प्रहार किया और वृत्र क्षत-विक्षत हो कर धराशायी हो गया।[4] उसे के दोनों जबड़े तोड़ डाले[5] वृत्र की माता उसकी रक्षा के लिए उसकी देह पर टेढ़ी हो कर छा गई, किन्तु इन्द्र ने उसकी भी हत्या कर दी।[6] अपनी भेद नीति से इन्द्र ने विरोधी दस्युओं को पीस डाला।[7] इस अनैतिक तरीके से शत्रु का वध करने पर इन्द्र को ब्रह्म हत्या का जो जघन्य पाप लगा, उसका प्रक्षालन नहीं हो पाया। इन्द्र ने जलों को मुक्त कराया था। उन पर उस का अहसान था। उन्होंने निर्णय किया मुक्ति दाता के पाप का वे प्रक्षालन करेंगे। उन्होंने उस ब्रह्म हत्या के पाप को अपने में, फेन रूप में, धारण कर लिया।[8] नदियों के जल का फेन उसी पाप का प्रतीक माना जाता है। नदियाँ अपनी मुक्ति का मुआवज़ा आज तक भी नहीं चुका पाई हैं और शायद कभी न चुका पाएँ, अनन्त काल तक!

वृत्र इतना शक्तिशाली था कि इन्द्र केवल अपने ही बलबूते पर उसे समाप्त नहीं कर पाया। इस कार्य में उसे विष्णु, बृहस्पति और मरुतों की सहायता लेनी पड़ी[9] उस प्रतापी शासक की मृत्यु के पश्चात् ही देवता अपने अमरत्व को अक्षुण्ण कर सके।[10]

वृत्र कौन था? प्रकृति का एक उपकरण? केवल मात्र भाव, प्रतीक या देह धारी?

वृत्र के लिए कपटी, देवकार्य में बाधक, अज्ञानी, पशु-रूप, मायावी, दैत्य-वृत्ति वाला, अतृप्त इच्छा वाला, बुरे विचार वाला आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। ये सभी गुण-अवगुण मानवीय हैं। कतिपय ऋचाओं से ऐसा आभास मिलता है कि वृत्र मेघ के अन्धकार का प्रतीक मात्र था। किन्तु उसे दस्यु असुर, महाबली असुर, अहि, दानव और अहिदानव ही माना जाता रहा है। उसे देवत्रस्ता और यज्ञ-विमुख भी कहा गया है। ये सभी विशेषण प्रमाणित करते हैं कि वृत्र देहधारी पुरूष था और शायद समाज में यज्ञ-विरोधी, अयाज्ञिक अथवा यज्ञ-विमुख वर्ग का नेता था।

---

1. वही (3.3.32)
2. वही (4.2.19)
3. वही (5.2.32)
4. वही (5.2.32)
5. वही (10.12.152)
6. वही (1.7.32.9)
7. ऋग्वेद (3.3.34)
8. ऋग्वेद (4.2.18)
9. ऋग्वेद (3.3.31, 3.3.32, 10.6.73, 4.2.16)
10. ऋग्वेद (10.2.157)

उसके सहजातीय अनुयायी थे शम्बर, शुष्ण, वेतसू, नमुची, चुमरि, धुनि, अहिक्षुव, पौर्णनाभ, कृष्ण, मणि, पणर्य, तुग्र, करंज, स्मदीभ, अरक, दशोनी मृग्या, वेश, वृहद्रथ, सषद्, बल, जरुथ, कुचव, वचि आदि। शुष्ण को वृत्रासुर के क्रोध से उत्पन्न हुआ व्यक्ति कहा गया है।[1] वह दुघर्ष योद्धा था। इन्द्र ने उसकी युवती पत्नी को बन्दी बनाया, उस की हत्या की और उसका घर राजर्षि कुत्स को प्रदान किया। उधर नमुचि की दो स्त्रियों को भी बन्दी बनाया। इसके लिए इन्द्र को नमुचि की स्त्री सेना की पंक्ति का भेद करना पड़ा था।

वृत्र के पश्चात् असुरों की पंक्ति में सब से विख्यात और महत्वपूर्ण व्यक्ति था शम्बर।[2] यह वशिष्ठ और विश्वामित्र का समव्यस्क था। वृत्र बहुत पहले हो चुका था। वह वैदिक युग के आदिकाल का मानव था।[3] शम्बर ऋग्वेद के मुख्य काल का, जिस की आँखों देखी घटनाओं का चित्रण प्राप्त होता है। जो स्पष्टतः इतिहास है, जिस में संशय, कल्पना और अनुमान की कोई गुंजाइश नहीं है।

बहुत सी ऋक्षाओं में शम्बर का उल्लेख वृत्र के साथ हुआ है कि इन्द्र ने वृत्र और शम्बर की हत्या की। परन्तु उस की निजी विशिष्टता यह है कि वृत्र गुफा में, जल में या अन्धकार में निवास करने वाला बताया गया है और वह पुरों में रहता था। पिप्र और शरदासुर की तरह पाषाण पुरों में। शम्बर के एक सौ पाषाणपुर थे। उसकी हत्या के पश्चात् इन्द्र ने इन में से निन्यानवे (99) पुर राजा दिवोदास को दिए और सौवां पुर अपने निवास के लिए रख लिया।[4] किन्हीं ऋक्षाओं में कहा गया है कि इन्द्र ने सभी शम्बर पुरों को नष्ट किया।[5] यह भी उल्लेख है कि इन्द्र ने निन्यानवे शम्बर-पुर नष्ट कर दिए और बाकी बचा एक दिवोदास को दे दिया।

शम्बर दिवोदास का विरोधी था अतः इन्द्र ने उस के लिए ही शम्बर को पराभूत किया था।[6] शम्बर असुरों का नेता, दस्युराज था। दिवोदास आर्यों का अग्रणी, तृत्सु राज था। तृत्सु आर्यों की एक शाखा थी।

शम्बर पर्वतेश था।[7] पाषाण निर्मित नगर-पहाड़ी इलाकों में ही हो सकते हैं और वे भी सैंकड़ों की संख्या में। वृत्र तो गुफाओं में रहता ही था और किसी महाबली के रहने योग्य बड़ी-बड़ी गुफायें केवल पहाड़ों में ही सुलभ हो सकती हैं।

दिवोदास चालीस वर्षों तक शम्बर के साथ युद्ध करता रहा, और उसे विजय तभी प्राप्त हुई जब इन्द्र ने उसकी सहायता की और स्वयं शम्बर का वध किया।

यह देव-दानव, आर्य-दस्यु अथवा आर्य जाति के ही विभिन्न वर्गों में दूसरा संघर्ष था और वृत्र-इन्द्र संघर्ष की तरह इसका क्षेत्र भी वही था, जिसे वर्तमान काल में हिमाचल कहा जाता है।

यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि भले ही वृत्र और शम्बर का कर्म क्षेत्र पहाड़ी प्रदेश था, पर उसे हिमाचल का ही क्षेत्र क्यों माना जाए? पहाड़ तो अफगानिस्तान से लेकर, कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश से लेकर असम तक हैं। वदों में अफगानिस्तान और कश्मीर उसी प्रकार उल्लिखित हैं, जैसे हिमाचल प्रदेश।

---

1. ऋग्वेद (5.2.32)
2. यह ध्यान में रखना होगा कि उपर्युक्त सभी असुर वृत्र के समकालीन नहीं थे। वे उसके पश्चात् कितने समय बाद हुए, कहा नहीं जा सकता, किन्तु यह निश्चित है कि वे सभी एक ही जाति के थे, जिसे असुर अथवा दस्यु नाम दिया गया था।
3. भागवत पुराण के अनुसार वृत्र का पिता त्वष्टा देव कुल से था। त्वष्टा पत्नी असुर कुल की। स्वयं वृत्र का जन्म यज्ञाग्नि से हुआ, परवर्ती सीता की तरह। अतः वह अयुज है।
4. ऋग्वेद (6.4.47 और 7.2.19)
5. ऋग्वेद (6.6.33)
6. ऋग्वेद (6.4.43)
7. ऋग्वेद (5.26.6)

अफगानिस्तान और कश्मीर की नदी सिन्धु के उतने ही गीत वेदों ने गाये गये हैं, जितने सरस्वती के। वितस्ता उसी प्रकार कश्मीर की जाया है, जैसी अस्किनी, परुष्णी, विपाशा, शुतुद्री और सरस्वती हिमाचल की हैं। कुभा, रसा आदि सिन्धु की सहायक नदियाँ काबुल क्षेत्र की हैं। काबुल उस युग में सप्तसिन्धु का भाग था। ऋग्वेद में इस प्रकार के संकेत मिलते हैं; यथा—रोमशा गान्धारीणामिवाविका। गांधार की मेड़ों की भांति रोंये वाली उपमा देना, ऋग्वैदिक आर्यों के गांधार प्रदेश के ज्ञान का सूचक है। गान्धार अफगानिस्तान ही है। इन क्षेत्रों में भी वैदिक नदियाँ हैं, पर्वत मुंजवत हैं, तो हम उन लेखकों, विद्वानों से क्यों असहमत हों जो अफगानिस्तान और कश्मीर को आर्यों का जन्मस्थान मानते हैं?

इस तरह ईरान आर्यों का आदि स्थान क्यों न स्वीकार किया जाए? वहाँ भी कुंभा और रसा नामक नदियाँ हैं, पर्वत हैं। दूसरे ऋग्वेद में कुछ ऐसी नदियों और स्थलों के नाम हैं, जिन का अस्तित्व भारत में नहीं है लेकिन इन में से कुछ नाम ईरान में अवश्य मिलते हैं। इसी प्रकार अवेस्ता में अहर्वमज्द ने आर्यों के निवास योग्य जिन-जिन प्रदेशों का वर्णन लिया है, उन में सप्त सिन्धु का पन्द्रहवां स्थान है, यथा "जिस पन्द्रहवें देश को मैंने उत्पन्न किया है, वह 'हप्त हिन्दू' था। अवेस्तावेन्दिदाद—प्रथम फर्बार्द।"[1]

यदि आर्य इन प्रदेशों में जन्मे तो ऋग्वैदिक घटनायें, विशेषतः वृत्र-इन्द्र संघर्ष और शम्बर-इन्द्र टकराव भी वहीं हुई होंगी। इसी के साथ जुड़ा है वह प्रश्न की मानव कहाँ उत्पन्न हुआ? और प्रथम मानव आर्य था या आर्येतर? यह विषय उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में गंभीर चिन्तन, विवाद और मतभेद का रहा है। मोटे तौर पर इसके दो पक्ष हैं। एक मान्यता है कि विश्व में अनेक जातियाँ हैं, लेकिन भारत की देशज कोई जाति नहीं। सभी बाहर से आई हैं, और आज इस के लोगों की रगों में सात नसलों का लहु प्रवाहित है। दूसरा पक्ष मानता है कि पहला मानव न सही किन्तु आर्य भारतीय हैं, देशज हैं। इस संबंध में प्रसिद्ध भाषाविद् विद्वान डा. सुनीति कुमार चटर्जी का कहना है :

"भारत की सरकार के प्रकाशनों में तथा बहुत बड़े पैमाने पर भारत के भीतर तथा उसके बाहर के देशों में, उस मत को स्वीकारा गया है, जो अपुष्ट, त्रुटिपूर्ण, अपर्याप्त, अवैज्ञानिक एवं अर्द्ध वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर मनमाने तौर पर भारतीय लोगों को प्रजातीय रूप में सात वर्गों में बाँटता है।" उन की धारणा है कि यह वर्गीकरण राजनीतिक पक्षपात से प्रेरित है।[2]

पाश्चात्य विद्वानों का बहुसंख्यक वर्ग कहता है कि इन बाहर से आने वाली जातियों में सर्व प्रथम भारत में नीग्रो जाति के लोग आए थे। उनके पश्चात् अस्ट्रिक अर्थात् आग्नेय जाति के लोग। भारत के वनों में जो जातियाँ रहती हैं, इन्हीं नीग्रो और अस्ट्रिकों की सन्तानें हैं। इनके बाद कई दलों में रोम सागर के पास से भूमध्यसागरीय लोग आएं, जिन्होंने इस देश में, द्रविड़ सभ्यता की स्थापना की। अन्त में तीन या चार दलों में आर्य आए। आर्यों का नार्डिक दल बड़ा ही कुशल और चिन्तनशील था। (मज़े की बात यह है कि युरोपीय मानव भी इन्हीं नार्डिक लोगों का वंशज है, अतः उन्हें कुशल और चिन्तनशील तो होना ही था।) इन लोगों के आगमन के बाद भारत में विभिन्न जातियों की संस्कृतियों के बीच समन्वय का क्रम आरंभ हुआ, जिसके फलस्वरूप आर्य या हिन्दू संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ। यह मत सिद्ध करना चाहता है:

भारत की अपनी भूमि से जन्मा कोई मानव नहीं है यहां के निवासियों के पूर्वज बाहर से ही आए, और बाहर से आने वाले ये लोग मुख्यतः रोम अथवा भूमध्यसागरीय क्षेत्रों चाहे आल्पस क्षेत्र के कैस्पीयन सागर से लगते मध्य एशिया के अथवा इथियोपिया के निवासी थे।

---

1. सम्पूर्णानन्द : "आर्यों का आदि देश"
2. दी वैदिक एज।

इस मत के अनुसार बाहर से आने वाली जातियों में नीग्रो के पूर्वज इथियोपिया से अरब और ईरान होते हुए भारत पहुँचे। प्रारंभ में वे भारत के दक्षिणी और पश्चिमी भागों में बसे, किन्तु धीरे-धीरे उत्तर-पूर्वी भागों में भी पहुँच गए। इस जाति का कोई विशिष्ट चिह्न, अंडेमान को छोड़, भारतीय महाद्वीप में अब नहीं मिलता। संभवतः इन्हें पीछे आने वाले आग्नेयों ने मार डाला या अपने में मिला लिया। नीग्रो के अस्पष्ट चिह्न दक्षिण भारत की आदिम जातियों या असम की नागा जातियों में बचे हैं।

दूसरे आगन्तुक थे निषाद्। इन में कोल, भील, मुंड, आदि उपजातियों की गणना होती है। भारत की जनसंख्या का एक प्रमुख भाग इन्हीं आग्नेयों अथवा आस्ट्रिकों का है। कश्मीर से लेकर प्रशान्त महासागर के पूर्वी द्वीप समूह तक जो भी पक्के रंग वाले वनवासी लोग हैं, वे ये ही हैं।

इस मतावलंबी वर्ग के एक भाग का यह कहना है कि ये आग्नेय वस्तुतः द्रविड़ों की ही शाखा थे। जब आर्य भारत में आए, यहाँ आस्ट्रिक भाषा ही प्रचलित थी। आर्यागमन के समय आग्नेय सप्त सिन्धु के तराई के क्षेत्र में विद्यमान थे। आर्यों ने ही उन का निषाद नामकरण किया और उनके काले रंग और चपटी नाक की हंसी उड़ाई।

हिमालय के दक्षिणी पठार पर उत्तर की ओर से एक और जाति आई। यह संस्कृत साहित्य में वर्णित किरात जाति है।

इसी बीच, ईसा से लगभग 5,500 वर्ष पूर्व, पश्चिम से एक और जाति ने प्रवेश किया। इन नवागन्तुक द्रविड़ों में आदि भूमध्य सागरीय, अन्त भूमध्य-सागरीय, पौर्वात्य तथा आर्मेनोइड समूहों का बाहुल्य था। आज की द्रविड़ भाषायें इन्हीं लोगों की देन हैं।

तमिलनाडु के प्रसिद्ध लेखक एवं बुद्धिजीवी का. ना. सुब्रमण्यम् (टाइमज़ आफ इन्डिया, फरवरी 4, 1988) का मानना है कि भारत में युरोप के उपनिवेशवादियों ने दुराग्रह और स्वार्थवश यह विवाद खड़ा किया है कि तमिल लोग द्रविड़ हैं, आर्य नहीं। वह लिखते हैं कि जब ये उपनिवेशवादी भारत में अपने पाँव, यहाँ के लोगों के बीच भेदभाव पैदा कर, मजबूत करना चाहते थे, तब उन्हें देश के उतरी भाग में तो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच दरार मिल गई, लेकिन दक्षिण में उन्हें इस प्रकार की कोई खाई नहीं मिल पाई। उत्तर में इन शासकों ने अलग मुस्लिम राष्ट्रवाद का बीज बो दिया। किन्तु दक्षिण में क्या करे? वहाँ इन उपनिवेशवादियों ने एक पादरी, बिशप काल्डवेल को इस प्रकार की खाई खोदने का काम सौंपा। यह मनोरथ काल्डवेल ने एक पुस्तक लिखकर साधा। पुस्तक थी "द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण"—कम्पैरेटिव ग्रामर आफ द ड्रबड़ियन लेंगवेजिज। इस में जो भाषा की बात थी, उसे उसने विस्तृत कर जातीय रूप दे दिया। और परिणाम यह हुआ कि तमिल जनता, जिसे मुख्यतः इसाई पादरियों ने उस की विगत महानता से परिचित कराया था, भड़क उठी। आर्यों के विरुद्ध विरोध जगा। इससे सबसे पहले और सब से ज़्यादा गहरा प्रभाव पड़ा तमिल के पंडितों और शिक्षा आचार्यों पर। बी. जी. सूर्यनारायण शास्त्री जैसे विद्वान ने अपना नाम शुद्ध तमिल में बदल कर परिश्रिमर्कलैज्ञन रख लिया।

जगदीश प्रसाद कौशिक (सप्तसिन्धु, मार्च 1964) के अनुसार द्रविड़ शब्द देशज है और तमिल भाषा का उद्बोधक है। तमिल संस्कृति के संस्थापक अगस्त्य मुनि थे। अगस्त्य का समुद्र के साथ संघर्ष तथा आर्य जाति के अन्य ऋषियों के साथ मतभेद केवल लोकप्रचलित कथन ही नहीं, अपितु शास्त्र-सम्मत तथ्य है। अतः भाषा विभेद को लेकर द्रविड़ों और आर्यों का, जो इसी भारत भूमि पर निवासित एक ही परिवार के सदस्य हैं, दो भिन्न-भिन्न प्रजातियों में विभाजित कर देना अनुचित है।

इन विद्वानों का ज़ोर देकर यह मानना है कि द्रविड़ भारत के ही मूल निवासी हैं, तथा आर्य और द्रविड़, दोनों लोग, इस देश में अनादि काल से रहते आए हैं। आर्यों द्वारा उन्हें अपने स्थान से खदेड़ कर सुदूर दक्षिण में भगा देने की बात मनघढ़न्त और शरारतपूर्ण है, जिसे द्वेष वश कहा गया है।

—जारी

आयोजन

संस्कृत दिवस समारोह

❑ मदन हिमाचली

भाषा एवं संस्कृति विभाग द्वारा प्रतिवर्ष राज्यस्तरीय संस्कृत दिवस समारोह का आयोजन किया जाता है। इस वर्ष यह समारोह जिला बिलासपुर के श्री नयनादेवी में विशेष उत्साह से मनाया गया। इस उपलक्ष्य में लेखक गोष्ठी, संस्कृत कवि सम्मेलन तथा शास्त्रीय संगीत सम्मेलन का आयोजन हुआ।

25 अगस्त (रक्षा बन्धन) की प्रात: प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान आचार्य शालिग्राम शर्मा ने ज्योति प्रज्ज्वलित करके इस समारोह का विधिवत् उद्घाटन किया। इससे पूर्व आचार्य हरिदत्त शर्मा ने वेद-मंत्रों का सस्वर पाठ किया। इस अवसर पर प्रदेश भर के लगभग चालीस संस्कृत विद्वान, कवि तथा शास्त्रीय संगीतकार उपस्थित थे। इनके अतिरिक्त स्थानीय संस्कृत विद्वानों व छात्रों ने भी इस आयोजन में भाग लिया। विभाग के निदेशक श्री ललित ने उपस्थित विद्वानों एवं कलाकारों का स्वागत करते हुए कहा कि संस्कृत भाषा के संरक्षण एवं प्रचार की दिशा में हमारे संस्कृत विद्वानों को आस्था के साथ आगे आना चाहिए। उन्होंने कहा कि हिमाचल प्रदेश सरकार ने शिक्षा में संस्कृत को उचित स्थान देने के उद्देश्य से इसे मैट्रिक तक पढ़ाने का निर्णय लिया है।

लेखक गोष्ठी का शुभारम्भ डॉ. पद्मचन्द्र काश्यप के शोध पत्र पाठ से हुआ। उनके पत्र का विषय 'वेदों में हिमाचल' था। डॉ. काश्यप ने वेदों में हिमाचल की नदियों के उल्लेख के माध्यम से यह स्थापित किया कि इस भू-खंड का उल्लेख वेदों में पाया जाता है। इसके साथ ही उन्होंने अनेक लोक कथाओं, पौराणिक संदर्भों और यज्ञादि की परंपराओं के माध्यम से यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया कि इन सब परंपराओं के स्रोत वेदों में ही निहित हैं।

पत्र पाठ के बाद परिचर्चा का आरंभ डॉ. गोकुल चन्द शर्मा ने किया। उनका कहना था कि वेदों के मूल अध्ययन के बिना संदर्भ ग्रन्थों के माध्यम से इस विषय के साथ न्याय सम्भव नहीं है। डा. काश्यप ने प्रारंभ में यह सच्चाई व्यक्त कर दी कि उन्होंने संस्कृत का अध्ययन नहीं किया बल्कि टीकाओं और संदर्भ ग्रन्थों के माध्यम से ही शोध किया है। यदि वे यह बात पहले स्पष्ट न करते तो संभवत: डॉ. गोकुल चन्द भी यह आक्षेप न कर पाते। प्रो. तुलसी रमण ने कहा कि शोध पत्र में वेदों से बाहर जाकर पुराण साहित्य को भी आधार बनाया गया है। श्री हरिश चन्द्र शास्त्री का कहना था कि वेदों में हिमाचल शब्द का उल्लेख नहीं है। उन्हीं की बात समर्थन करते हुए डॉ. आर. वासुदेव प्रशान्त का कहना था कि वेदों में हिमाचल का उल्लेख नहीं आता। इस बीच गोष्ठी का संचालन कर रहे विपाशा के संपादक श्री तुलसी रमण ने हस्तक्षेप करते हुए कहा कि शोध पत्र में यह स्पष्ट है कि हिमाचल की नदियों का उल्लेख वेदों में है और नदियों को मानवता के कल्याण के लिए मुक्त करने का भी उल्लेख है इससे स्पष्ट हो जाता है कि सारी बात इस भू-खण्ड को लेकर ही है। उन्होंने आगे

कहा कि जब हम कालिदास साहित्य में हिमालय वर्णन की बात करते हैं तो यह नहीं देखते कि हिमालय शब्द कितनी बार आया है बल्कि हिमालय के भूगोल और उसके वनस्पति एवं प्राणि जगत पर केन्द्रित करते हैं। इसी तरह यहाँ हिमाचल शब्द को जोड़ना निरर्थक है क्योंकि स्थानों और भू-भागों के नाम तो समयानुसार बदलते रहते हैं, वास्तव में ज़मीन अपनी जगह बनी रहती है।

डॉ. सतीश कुमार शर्मा का मत था कि इस विषय के संदर्भ में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में आर्य जाति का उल्लेख अनिवार्य है तभी हम वेदों के संदर्भ में हिमाचल की इस भूमि को लेकर बात कर सकते हैं। श्री गोविन्दराम शास्त्री ने चर्चा को आगे बढ़ाते हुए कहा कि विभाग ने बहुत महत्वपूर्ण विषय निर्धारित किया है। इस विषय पर व्यापक चर्चा और शोध होना चाहिए और इस शोध को जनमानस तक पहुँचाने की आवश्यकता है। आचार्य रामानन्द शर्मा ने ऋग्वेद की ऋचा के माध्यम से यह प्रमाणित किया कि ऋग्वेद में हिमवान, हिमगिरि इत्यादि शब्दों तथा शतद्रु, विपाशा आदि नदियों का उल्लेख है और हिमवान और हिमगिरि के क्रम में ही हिमाचल नाम हुआ है। उन्होंने यह भी कहा कि 'वेदों में' तात्पर्य केवल चार वेदों से नहीं होता बल्कि वाङ्मय आ जाता है। इसलिए केवल वेदों तक सीमित रहने की आवश्यकता नहीं हैं।

डॉ. राम प्रकाश शर्मा ने परिचर्चा को आगे बढ़ाते हुए कहा कि विषय को मात्र ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए बल्कि इसमें भाषायी एवं सांस्कृतिक परिवेश की भी चर्चा होनी चाहिए। कुछ अन्य विद्वानों ने भी परिचर्चा में भाग लिया। अध्यक्षीय भाषण में आचार्य शालिग्राम शर्मा ने कहा कि यह आवश्यक नहीं की हम पाश्चात्य विद्वानों के मत से ही सहमत हों, भारतीय सभ्यता व संस्कृति के आत्म दर्शन की आवश्यकता है। यदि वेदों में विद्यमान हिमाचल के प्राचीन संदर्भों को देखा जाए तो यहाँ की संस्कृति का तत्कालीन परिष्कृत रूप सामने आ सकेगा।

सायं छः बजे संस्कृत कवि सम्मेलन का शुभारम्भ श्री भवानी दत्त शास्त्री की अध्यक्षता में हुआ। कवि सम्मेलन का संचालन प्रो. केशव शर्मा ने किया। सर्व श्री दुर्गादत्त शास्त्री, चन्द्रशेखर बेबस, हरिवल्लभ शर्मा, आचार्य रामानन्द, डॉ. हरिदत्त शर्मा, आचार्य शुक देव शर्मा, नरोत्तम दत्त शास्त्री, प्रो. खुशी राम शर्मा, डॉ. गंगादत्त, हरिदत्त आचार्य तथा मदन मोहन शर्मा आदि कवियों ने संस्कृत में कविता पाठ किया।

रात को शास्त्रीय संगीत सम्मेलन प्रसिद्ध संगीतज्ञ प्रो. मोहन शर्मा की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम कु. परमजीत कौर ने वीणा वादन प्रस्तुत किया उसके बाद युवा कलाकर प्रवीण जरेट ने उपशास्त्रीय संगीत का गायन किया। श्री हरिश्चन्द्र शर्मा ने राग मालकौंस पर नृत्य किया। इसके पश्चात् श्री मोहन राठौर ने अपना शास्त्रीय गायन प्रस्तुत किया। शास्त्रीय एवं उपशास्त्रीय गायन वादन के इस क्रम में तबले पर श्री रूपराम ने संगति की और उन्होंने तीन ताल की एकल प्रस्तुति भी की। अन्त में प्रो. मोहन शर्मा ने अपना गायन प्रस्तुत किया। राज्यस्तरीय संस्कृत दिवस समारोह के अतिरिक्त विभाग द्वारा प्रत्येक जिला में जिला स्तर पर भी संस्कृत दिवस समारोहों का आयोजन किया गया।

जिला स्तरीय संस्कृत दिवस : शिमला

दिनांक 5.9.1991 को राजकीय नेहरु संस्कृत महाविद्यालय शिमला में जिला स्तरीय संस्कृत दिवस समारोह का आयोजन किया गया जिसमें महाविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए संस्कृत श्लोकोच्चारण प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। इसमें 6 महाविद्यालय के 15 छात्र-छात्राओं ने भाग लिया। प्रतियोगिता के परिणाम निम्न प्रकार से रहे :—

1. कुमारी सुनीता शर्मा, श्री वशिष्ठविद्यापीठ तुंगेश, तह. ठियोग, जिला शिमला प्रथम

2. कुमारी अरुण प्रभा, राजकीय जैहिन्द संस्कृत महाविद्यालय क्यार्टू, जिला शिमला द्वितीय
3. श्री परमानन्द, श्री वशिष्ठ विद्यापीठ तुंगेश, ठियोग, जिला शिमला, तृतीय

इस समारोह के द्वितीय सत्र में प्रदेश के जाने-माने 7 संस्कृत कवियों ने संस्कृत में कविता पाठ किया। स्थानीय महाविद्यालय के विद्यार्थियों द्वारा इस अवसर पर एक रोचक सांस्कृतिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया गया।

इस आयोजन के मुख्य अतिथि हिमाचल प्रदेश भाषा एवं संस्कृति अकादमी के सचिव, डॉ. बंशीराम शर्मा थे तथा समरोह की अध्यक्षता डॉ. ओमप्रकाश सारस्वत ने की। इस अवसर पर उन्होंने कहा कि संस्कृत के पठन-पाठन को किसी भी प्रकार की हीन भावना से नहीं देखना चाहिए। मुख्य अतिथि डा. बंशीराम शर्मा ने विभाग एवं अकादमी द्वारा संस्कृत भाषा एवं साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु आरम्भ की गई विभिन्न योजनाओं का विवरण देते हुए कहा कि विभाग एवं आकदमी संस्कृत भाषा की समृद्धि तथा उन्नति के लिए भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। अकादमी द्वारा संस्कृत भाषा की वार्षिक पत्रिका 'श्यामला' का प्रकाशन आरम्भ किया गया है।

नेहरु संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य श्री रामानन्द के धन्यवाद के साथ इस समारोह का समापन हुआ।

—ध्यान सिंह भागटा

पालमपुर में गुलेरी जयंती समारोह

विख्यात कथाकार श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 109 वीं जयंती के उपलक्ष्य में भाषा एवं संस्कृति ने पिछले दिनों पालमपुर में दो दिवसीय राज्य स्तरीय 'गुलेरी जयंती समारोह' का आयोजन किया। इसमें प्रतिष्ठित साहित्यकारों के साथ नयी प्रतिभाओं ने भी भाग लिया।

इस आयोजन का उद्घाटन करते हुए हिमाचल कृषि विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. कीर्ति सिंह ने कहा कि गुलेरी जी की हिन्दी साहित्य को महत्वपूर्ण देन है। उन्होंने नवोदित साहित्यकारों से पारस्परिक मैत्री और सद्भाव को अपनी रचनाओं में स्थान देने के लिए आग्रह किया। समारोह का आरंभ काव्य गोष्ठी से हुआ। इसमें डॉ. अशोक जेरथ, डॉ. ओम् प्रकाश सारस्वत, सागर पंडित, द्विजेद्र द्विज, बद्रीसिंह भाटिया, फूलचंद मानव, ठाकुर दत्त आलोक, नरेश कुमार उदास, अशोक शर्मा, गुरमीत वेदी, डॉ. वासुदेव प्रशांत, बालकृष्ण डोहरु, धनीराम पालमपुरी तथा महेश सक्सेना आदि कवियों ने कविता पाठ किया।

दूसरे सत्र में डॉ. पीयूष गुलेरी ने 'भाषा मनीषी गुलेरी' विषय पर अपना पत्र प्रस्तुत किया। इस पर बहस में भाग लेते हुए डॉ. गौतम व्यथित ने कहा कि गुलेरी जी की भाषा का भाषा विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन होना चाहिए। डॉ. कश्मीरी लाल ने भी अपने विचार व्यक्त किये। डॉ. सुशील कुमार फुल्ल ने परिचर्चा को नया मोड़ देते हुए कहा कि गुलेरी जी ने कई जगह अटपटे शब्दों का प्रयोग करके कहानियों के प्रवाह को तोड़ा है।

तीसरे सत्र में त्रिलोक मेहरा ने 'चूना लगा रहा हूँ', श्यामसिंह घुन्ना ने 'जुगाड़' डॉ. संसार चंद प्रभाकर ने 'स्पीकर की ओट में', डॉ. प्रत्यूष गुलेरी ने 'उग आए पंख' तथा डॉ. हैरिएट प्रिम ने 'संदीपा' शीर्षकों से अपनी कहानियाँ पढ़ीं। सभी कहानियों पर विस्तार से बहस हुई। इस आयोजन का संचालन श्री जगदीश शर्मा ने किया। इस अवसर पर भाषा एवं संस्कृति विभाग के निदेशक की ललित ने त्रिलोक मेहरा के कहानी संग्रह 'कटे फटे लोग' का विमोचन भी किया।

सोलन में कहानी पाठ

उर्दू शोध और प्रशिक्षण केन्द्र सोलन में गत दिनों भाषा एवं संस्कृति विभाग के जिला कार्यालय द्वारा महिला कथाकारों द्वारा कहानी पाठ का आयोजन किया गया। इसमें जिला सोलन की महिला कथाकारों ने अपनी कहानियाँ पढ़ कर सुनाईं और इन पर बहस भी हुई। कर्नल विष्णु शर्मा और जगदीश शर्मा ने पढ़ी गई कहानियों पर समीक्षात्मक टिप्पणियाँ दीं।

चार महिला कथाकारों मीरा सहगल, राजकुमारी ठाकुर, नीलू नस्तान और निर्मल छाया ने क्रमशः 'अहसास का वह क्षण', 'अधूरे सपने', 'कशमकश' और 'रजो' शीर्षक से अपनी कहानियाँ पढ़ीं। दो कथाकारों उषा आनन्द और बुशरा अली ने इन कहानियों पर अपनी प्रतिक्रियाएँ देते हुए मीरा सहगल और राजकुमारी की कहानियों में कुछ अंग्रेजी शब्दों को आयातित बताते हुए उन से परहेज करने की सलाह दी तो डॉ. जमाल और डॉ. फतीही ने इन सभी कहानियों को अच्छी कहानियाँ बताते हुए मिली-जुली भाषा के प्रयोग को कहानी की खूबी बताते हुए हमारी मिश्रित संस्कृति की आवश्यकता बताया। डॉ. गजनफर अली जो इस कार्यक्रम को अपनी शायरी के पुट के साथ बहुत ही मनोरंजन बताते हुए संचालित कर रहे थे, ने इन कहानियों के कथ्य को आज के ज़ीवन का सही चित्रण करने वाला पाया। हाँ, एक दो कहानियों के कहने के ढंग में उन्होंने कुछ सुझाव दिए। मुख्य अतिथि कथाकार कर्नल विष्णु शर्मा ने कहानी के मूल तत्वों का विषद् विवेचन करते हुए इन कहानियों को अच्छी कहानियाँ बताया। उन्होंने यह भी सलाह दी कि जब कथाकार घटना का यथातथ्य चित्रण करने लगता है तो वह घटना वृतान्त बन जाती है जब कि कहानी में कल्पना और शिल्प का पुट इसे एक विशेष मोड़ दे कर वैशिष्टय और वैचित्र्य प्रदान करता है।

इस अवसर के अध्यक्ष, भाषा एवं संस्कृति विभाग के सहायक निदेशक श्री जगदीश शर्मा ने पढ़ी गई चारों कहानियों की गुण-दोष के आधार पर विस्तारपूर्वक समीक्षा करते हुए कहानी कारों के साथ इस प्रकार संवाद स्थापित किया कि इसने प्रश्नोत्तरी का रूप ले लिया और गोष्ठी एक अच्छी खासी कार्यशाला में परिवर्तित हो गई। 'कशमकश' कहानी शेष तीनों कहानियों से पृथक महिला धुरी से हटकर लिखी गई कहानी थी जबकि अन्य तीनों कहानियाँ महिला प्रधान विषयक कहानियाँ थीं। श्री शर्मा ने सलाह दी कि कहानीकार निर्णायक नहीं है। एक बात का कलात्मक चित्रण करना या कुछ प्रश्नों को उपस्थित कर देना और कथ्य की प्रस्तुति में सम्प्रेषणीयता उत्पन्न कर पाठक को साधारणीकरण की स्थिति में पहुँचाना ही कहानीकार का कर्तव्य है। हाँ इन क़हानियों में प्रयुक्त भाषा की उन्होंने सराहना की क्योंकि वातावरण को चित्रित करने तथा पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग से कहानियों में सजीवता आती है। इस प्रकार यह आयोजन एक सफल कहानी कार्यशाला के रूप में सम्पन्न हुआ जिसका उद्घाटन व समापन डॉ. पी. सी. अदलखा ने अपने चुस्त, प्रभावशाली और उपयोगी वक्तव्य से किया तथा लेखकों को अधिक पढ़ने और सामाजिक सरोकार के विषयों को अपना कथ्य बनाने की सलाह दी।

— मनजीत

हिमाचल प्रदेश के भद्रमुख

❑ सुरेन्द्र मोहन सेठी

रामायण के लंका काण्ड में राम के बाण द्वारा रावण के प्रासाद के 'वज्र मस्तक' को ध्वंस किये जाने का प्रसंग है। प्राचीन राज भवनों, देव गृहों, चैत्यागारों, कक्षों तथा कूटागारों व शिखर मन्दिरों के इस महत्वपूर्ण अलंकरण को प्राचीन पाली और संस्कृत ग्रन्थों में वज्रमस्तक के इलावा गवाक्ष वातायन, सिंहपन्जार, उद्गम व चैत्य की संज्ञा भी दी गई है, जिस का ध्येय भवन के ऊपरी तल पर वायु तथा प्रकाश की सुविधा के लिये था। कवि कालिदास ने इन चैत्याकार वातायनों में से झांकतें सुन्दर चेहरों का वर्णन रघुवंश में किया है।

उन्होंने इन गवाक्षों में से झांकते सुन्दर चेहरों को गन्धर्व मुख अथवा चन्द्रमुख की संज्ञा दी है। भरभौर (चम्बा) के एक प्राचीन लेख (7 वीं शताब्दी) में इस गवाक्ष के लिये चन्द्र शाला शब्द का प्रयोग हुआ है। दक्षिण भारत में यह कुडु के नाम से विख्यात है। मूलरूप से यह चैत्यनुमा वातायन एक बौद्धिक अलंकरण है जिस का उद्देश्य चैत्यगृह में स्थापित बौद्ध स्तूप को उजागर करना रहा है। गुप्तकाल के उत्तरार्द्ध में शिखर मन्दिरों का वास्तु स्थापत्य पर्याप्त रूप से विकसित हो गया था। आठवीं शताब्दी तक शिल्पकार इस प्रकार की रूप रेखा लिये गवाक्ष को शिखर मंदिरों के प्रवेशद्वार के ऊपर स्थापित करते रहे ताकि सूर्य की प्रथम किरणें गर्भगृह में स्थित मूल देवता के चरण कमलों पर पड़ सकें। परन्तु अब (आठवीं शताब्दी पश्चात्) मन्दिरों के आगे मण्डप भी जोड़ा जाने लगा और गर्भ गृह भी अपने नाम को सार्थक करता हुआ अंधकारमय और साधारण बनाया जाने लगा। शिल्प शास्त्रों ने मन्दिरों के लिये वायु तथा प्रकाश का कोई प्रावधान नहीं रखा। शिल्पकार ऐसी वास्तु व्यवस्था देखते हुए जिसमें हवा तथा रोशनी का कोई प्रावधान नहीं था; इस वर्तुलाकार गवाक्ष को और ऊपर ले गये और इसे मन्दिर के शुकनास के शीर्षभाग पर बैठा दिया और इसे भिन्न-भिन्न अलंकरणों से सजाने लगे। हिमाचल प्रदेश के शिखर मन्दिरों के भद्रमुखों से झांकती मानव आकृतियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं कि अपने मूलरूप में गवाक्ष की उपयोगिता एक वातायन अथवा खिड़की के रूप में थी जिस में से झांकते हुए आजकल की भांति केवल मानव वक्ष ही देखे जा सकते थे क्यों कि इन का अधोभाग वेदिका के पीछे छिपा रहता था। भरहुत, सांची, और अजन्ता की गुफाओं में एक सिर वाले भद्रमुखों की संरचना हुई है। परन्तु हिमाचल प्रदेश के त्रिशिर भद्रमुखों की परम्परा किस देश-प्रदेश से ली गई यह कहना कठिन है। शिल्प प्रकाश में गवाक्षों में किसी सुन्दर मुख के निर्माण का प्रावधान अवश्य है।

हरमन गोइटज इन भद्रमुखों को एलिफेन्टा गुफाओं कीआखिरी गूँज बताता है। उत्तर-पश्चिम हिमालय को छोड़ शेष भारत में ऐसा कोई मन्दिर प्रकाश में नहीं आया जिस में त्रिशिर भद्रमुखों का निर्माण किया गया हो। समस्त भारत में इस प्रकार के कपाट में मूलतः हमें लकुलीश, नटराज, विष्णु, ध्यानस्थ योगी महिषासुर

मर्दिनी या इसी प्रकार के देवी-देवता के दर्शन होते हैं। हिमाचल प्रदेश में सर्व प्रथम जगत-सुख (कुल्लू) के शिव मन्दिर (7 वीं शताब्दी) बजौरा (कुल्लू) के विशेश्वर महादेव मन्दिर (8 वीं शताब्दी) और मसरुर मन्दिर (कांगड़ा, 8 वीं शताब्दी) में सर्व प्रथम एक शिर अथवा त्रिशिर भद्रमुखों का निर्माण हुआ मिलता है। जगत-सुख (कुल्लू) के समीप एक शिव मन्दिर के बाहरी गवाक्ष में एक सामभंग व स्थानक सूर्य प्रतिमा प्रकाश में आई है। संभवतः यहाँ एक सूर्य मन्दिर रहा होगा जिस के शुकनास के शीर्ष भाग पर यह शिला स्थित थी। कांगड़ा किला के प्रांगण में भी एक विशाल चैत्याकार शिला उपेक्षित दशा में पड़ी है जिस में एक जैन तीर्थंकर पद्मासन मुद्रा में भद्रपीठ पर आसीन है। यह विशालकाय शिला इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि एक समय यहाँ अवश्य जैन मन्दिर रहा होगा। मध्ययुग में कांगड़ा में जैनियों का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया था कि वह कांगड़ा किला के ठीक मध्य जैन मन्दिर की स्थापना कर सके। स्वयं कटोच की कुलदेवी अम्बिका जैनियों की शासन देवी मानी जाने लगी। निरमण्ड (कुल्लू) के एक चैत्याकार मैडलियन (7 वीं शताब्दी) में एकमात्र त्रिकंटक मुकट धारी देवी का उत्कीर्णन हुआ है। यह भद्रमुख राज्य संग्रहालय शिमला में सुरक्षित है। हाटकोटी के एक मन्दिर में शुकनास पर नटराज शिव के दर्शन होते हैं। डा. ओहरी के मतानुसार चम्बा के शिखर मन्दिरों में जड़ें हुए भद्र मुखों का आगमन मन्दिर बनने के काफी समय पश्चात् हुआ। ऐसा वह शैली के आधार पर मानते हैं। एम. पोस्टल अपनी पुस्तक (Antiquitis of Himachal) में जगत-सुख, कुल्लू के अन्तराल व भद्रमुख को बाद में स्थापित किया मानते हैं, पर इसका कारण वह नहीं बताते। भद्रमुख की रूप रेखा का आकार सर्व प्रथम वैसा ही था जैसा दो शाखाओं को धरती पर गाड़ कर उन के ऊपरी सिरों को बांध देने से दृष्टिगोचर होता है। इन्हीं शाखाओं की लताओं से ही भद्रमुख को अलंकृत किया गया है। समय के साथ-साथ घोड़े की नाल नुमा यह आकार वर्तुलाकार बनता गया। मुगल काल तक पहुँचते पहुँचते यही प्रतीक महराबदार आर्क में तबदील हो गया जिस के नीचे बैठे मुगल व पहाड़ी सम्राट हुक्का पीते झरोखा दर्शन देने लगे।

उत्तर-पश्चिमी हिमालय में तो नहीं अपितु शेष भारत में इसे सिंहमुख अथवा कीर्तिमुख से उगलता हुआ भी दिखाया जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सर्व प्रथम त्रिशिर भद्रमुखों का निर्माण शिव मन्दिरों के लिये हुआ परन्तु तत्पश्चात् यह सभी मन्दिरों में एक से बनाये जाने लगे। शिव मन्दिरों के त्रिशिर भद्रमुख शिव के तीन रूपों का बोध कराते हैं यथा तत्पुरुष महादेव, उमवामदेव और अघोर भैरव। देवमण्डली की प्रदक्षिणा करने वाली तिलोत्तमा को देखने के लिये शिव ने चार दिशाओं में चार-मुख प्रकट किये। महाभारत में इन मुखों की व्याख्या करते हुए शिव ने कहा है कि मेरा पूर्व मुख सौम्य है। साधारण और सुन्दर है और मेरे भक्तों को प्रिय है। पश्चिम मुख स्त्री का है अतः उमा वामदेव कहलाता है। इस से मैं अपनी पत्नी उमा से वार्तालाप करता हूँ। दक्षिण मुख अघोर भैरव का है। अतः संहार के लिये है। प्रस्तर प्रतिमा की आवश्यकता को देखते हुए चौथा मुख नहीं गढ़ा गया और गुप्त काल के पश्चात् इन की दिशाओं में भी परिवर्तन आ गया। 12 वीं शताब्दी के पश्चात् उत्तर पश्चिमी हिमालय के शिल्पकार इन मुखों के भेदों को भूल से गये। मुकट धारण किये हुए यह मुख एक से लगने लगे और वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित शिखर मन्दिरों पर भी इन का निर्माण होने लगा।

[राज्य संग्रहालय, शिमला - 4]

किन्नौर के मंदिर : छः, रेखांकन एवं प्रस्तुति : हिम कुमार चटर्जी

कानम गोम्पा

यह गोम्पा पूह तहसील के कानम गाँव में है। कई विद्वानों ने इस गोम्पा को रत्तन भद्रा (958-1055 ई.) के समय में निर्मित माना है। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि रत्तन भद्रा ने इसका निर्माण कश्मीर जाते और वहाँ से लौटते हुए करवाया था। इसमें महात्मा बुद्ध की एक प्राचीन धातु प्रतिमा है और बुद्ध की एक मूर्ति चंदन की लकड़ी की बनी है। कक्षों की भित्तियों पर सुंदर चित्र हैं।

मोरंग गोम्पा

यह गोम्पा गोलुक्पा सम्प्रदाय का है। यह तहसील पूह के मोरंग गाँव में सबसे ऊपर स्थित है। कहा जाता है कि इस प्राचीन गोम्पा के निर्माण में नौ वर्ष लगे थे। इस विशाल गोम्पा की भीतरी तथा बाहरी दीवारों पर सुंदर चित्रकारी है। इस दो मंजिला गोम्पा की ऊपर की मंज़िल में एक पुस्तकालय, मूर्तियों का संग्रह तथा तांत्रिक चित्र दीर्घा है। विशाल सभा कक्ष में बुद्ध की विशाल मूर्ति के दोनों ओर दीवार पर बौद्ध गुरुओं की प्रतिमाएँ हैं।

आवरण के चित्र

मुख पृष्ठ पर 'चारंग' का चित्रांकन है। विपाशा के गतांकों से 'किन्नौर के मंदिर' रेखांकन श्रृंखला चल रही है। इसके अंतर्गत किन्नौर के प्रमुख मंदिरों के रेखांकन वास्तुपरिचय सहित प्रस्तुत किये गये हैं। किन्नौर के लगभग सभी मंदिरों के निकट परिसर में चारंग निर्मित होता है। मंदिर से बाहर निकलने पर यह देवता के बैठने का स्थान होता है—खुले में देवता के दर्शन का स्थल। 'चारंग' की छत बहुत सुंदर होती है और इसके लकड़ी के स्तंभों पर बारीक नक्काशी होती है। इस तरह मंदिर के प्रांगण में कलात्मक 'चारंग' सुंदर दिखाई देता है।

दूसरे पृष्ठ पर मंडी नगर के बरसेला समूह (स्मारक शिलाएँ) का चित्र है। मंडी रियासत की यह परम्परा थी कि राजा या राज परिवार के किसी सदस्य के निधन के वार्षिक पर स्मृति-शिला स्थापित की जाती थी। कलात्मक स्मृति-शिला में दिवंगत का चित्र भी उकेरा जाता था। इस तरह इस बरसेला समूह के माध्यम से इतिहास जीवंत हो उठता है।

तीसरे पृष्ठ पर भोजपत्र के वृक्ष का चित्र है। भोजपत्र के तने में ऐसी पतली तहें होती हैं जिन्हें खोलकर कागज़ के रूप में प्रयोग किया जाता है। कागज़ के आविष्कार से पूर्व इन्हीं भोजपत्रों पर पांडुलिपियाँ लिखी जाती थीं। प्राचीन वाङ्मय आज भी भोज पत्रों पर उपलब्ध है। किन्नौर तथा ऊँचे पर्वतीय क्षेत्रों में यह वृक्ष आठ हज़ार से दस हज़ार फीट तक की ऊँचाई पर मिलता है। अपने प्राकृतिक रंगों में भोजपत्र की कागज़ी छाल कलात्क सुंदरता लिए होती है। लोग इसे पूजा के योग्य पवित्र वृक्ष मानते हैं

चौथे पृष्ठ पर रेणुका झील (ज़िला सिरमौर) का प्राकृतिक दृश्य है। इस प्राचीन धार्मिक स्थल का एकांत प्राकृतिक सौन्दर्य अनूठा है।

उपहार चित्र में पहाड़ी लघुचित्र शैली का चित्र है। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में रचित इस चित्र में 'पत्र लिखती हुई नायिका' चित्रित है। एक सेविका मशाल से प्रकाश कर रही है और सखी लिखे हुए पृष्ठ को पढ़ रही है। बाहर आकाश में चाँद और तारे दिखाई दे रहे हैं। सब मिलाकर रात के समय में पत्र लिखने का सुंदर दृश्य बनता है।

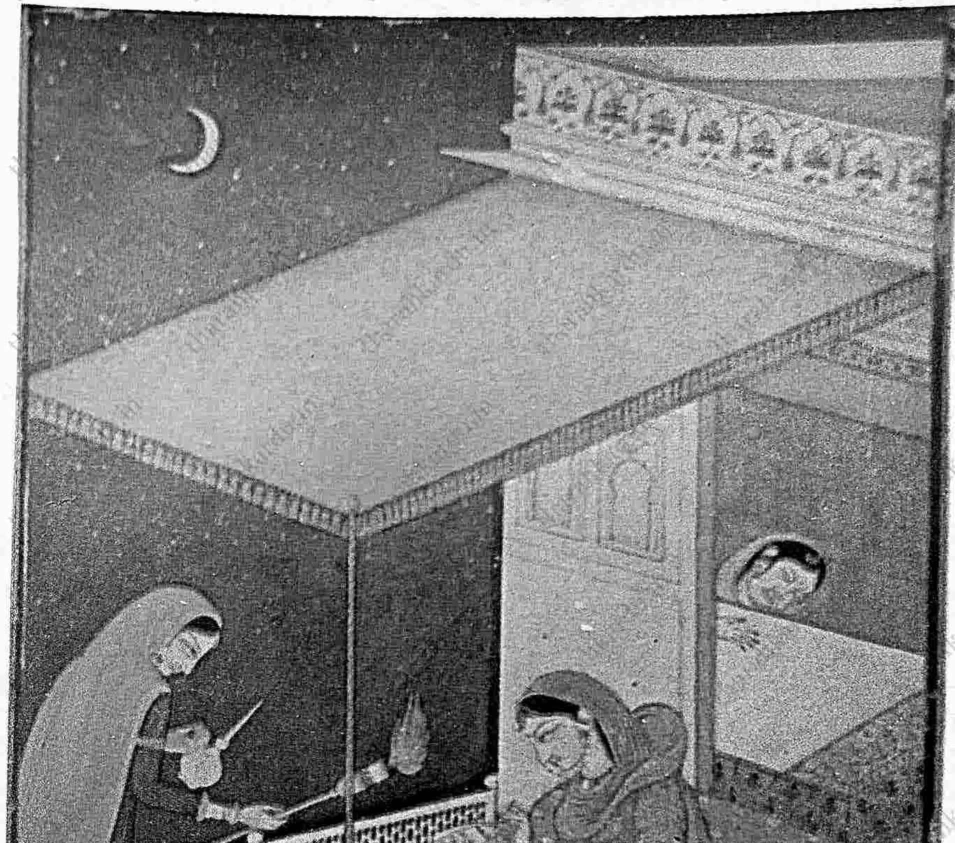

विपाशा उपहार चित्र

पत्र लिखती नायिका

(कांगड़ा, 19वीं शताब्दी पूर्वार्ध, राज्य संग्रहालय शिमला)

tharahkaurdu.in

tharahkardu.in

भोजपत्र वृक्ष

रेणुका झील (ज़िला सिरमौर) का एक दृश्य

निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश, शिमला-171003 द्वारा प्रकाशित
तथा नूर ऑफसेट प्रैस, नई दिल्ली-110055 (फोन : ऑफिस 520124) द्वारा मुद्रित